वर्ष ७, अंक ७

श्रीकृष्णाय नमः

चैत्र पूर्णिमा १९८९

वार्षिक चन्दा २)

सम्पादक—
म० कृष्णानन्द, भूमानन्द

एक

विषय सूची

नं०	लेख	लेखक	पृष्ठ
१.	वेदोपदेश		१६३
२.	भगवद्भक्ति (ले० श्रीस्वामी भोले बाबा जी		१६४
३.	भीलनी के बेर (कविता) (ले० श्री श्रीगंगा विष्णु पाण्डेय विद्याभूषण "विष्णु" ...		२०१
४.	विश्वास (ले० श्रीमती		२०१
५.	विनोद (ले० श्री पुरुषोत्तम नाथ जी त्रिपाठी		२०३
६.	सम्मिलन (कविता) (ले श्री बी० एल० सराफ बी० ए०		२०४
७.	श्रीरामतीर्थ महाराज के वचनामृत		२०५
८.	लक्ष्मी और नारायण (ले० श्री गोपाल प्रसाद जी शर्मा		२०६
९.	पुरुषार्थ (ले० पुरोहित श्री रामस्वरूप जी शर्मा		२०८
१०.	प्रत्याहार (ले० श्री स्वामी आत्मानन्द जी		२१०
११.	श्याम (कविता) (ले० श्री गंगा विष्णु पाण्डेय "विष्णु"		२१५
१२.	आत्मानुभूति (ले० श्री महात्मा राम		२१५
१३.	भक्ति (ले०श्री पं० नन्दकिशोर जी पाण्डेय		२२०
१४.	भजन		२२३

REG DNo. .L 2077

भक्ति प्रेस में मिलने वाली पुस्तकें।

१.	भगवद्गीता संस्कृत तथा भाषा टीका सहिता	मूल्य	॥=)
२.	भगवद्गीता दशम अध्याय पर्यन्त ...	,,	।=)
३.	वेदोपनिषद्		।)
४.	अष्टोत्तरशतमन्त्रमाला	,,	।)
५.	ज्ञानधर्मोपदेश	,,	।।।)
६	भक्ति ज्ञान योग संग्रह	,,	=।।)
७.	सत्य शब्द संग्रह (गुटका)	,,	।)
८.	सत्य शब्द संग्रह	,,	।=)
९.	शब्दसंग्रह	,,	।।)
१०.	सारसंग्रह	,,	।)
११.	भाषा फक्किका प्रकाश	,,	।=)
१२.	मनुस्मृति सार	,,	=।)
१३.	भक्ति चिन्तामणि	,,	=)
१४.	भगवद्भक्तांक	,,	॥=)
१५.	भगवदंक	,,	॥।)
१६.	गवांक	,,	१।)
१७.	महात्मांक	,,	१)

नोटः-एक रुपये से कम मूल्य की पुस्तक मंगाने वालों को डाक महसूल सहित टिकट भेजने चाहियें।

मिलने का पताः-

श्री भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी।

मुद्रक तथा प्रकाशक ब्रह्मानन्द ब्रह्मचारी "भक्ति प्रेस" भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी।

पुष्पवाटिकामें श्रीराम-सीता

GITA PRESS, GORAKHPUR.

जनता में भगवद्भक्ति भाव को जाग्रत करने वाली सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष ७ | श्री भगवद्भक्ति आश्रम रेवाड़ी, चैत्र पूर्णिमा, मार्च १९३३ | अंक ७ पूर्ण संख्या ७९

वेदोपदेश

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः ॥ १ ॥

हे परमात्मन्! आप स्त्री हैं, आप ही पुरुष हैं आप कुमार हैं और आप कुमारी हैं आप जीर्ण (वृद्ध) हो कर दण्ड से वंचित करते हैं, आप विश्वतो मुख होते हुए भी उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

ओं द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव
शान्तिः सा मा शांतिरेधि ॥ २ ॥

हे भगवन! सूर्यादि लोक हमको सुखदायक हों, तथा आकाश, पृथिवी, जल, औषधि वनस्पति, संसार के सब विद्वान्, ब्रह्म देव यह सब हमको सब काल में सुखदायक हों ॥ २ ॥

यद्याव इन्द्र ते शतꣳ शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त सहस्तꣳ सूर्या अनु न जात मष्ट रोदसी ॥ सा० ३,५,६

हे इन्द्र ! यदि द्युलोक सैकड़ों हों तोभी तुम्हें नहीं व्याप सकते, भूमी सौभी हों तो भी आपकी मूर्ती बनाने में पर्याप्त नहीं हो सकतो, हे वज्रधारी ! सूर्य आपको प्रकाशित नहीं करसकते । उत्पन्न हुये पदार्थों में कोई पदार्थ भी आपको नहीं व्याप सकता क्योंकि आप सबसे बड़े हो ॥ ३

इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम् ।
आशु जेतारꣳ रथीतमम तूर्त तुग्रियावृधम् ॥ सा० ३, ६, १

हे पुरुषो ! तुम जरा रहित शत्रुओं के प्रेरक किसी को भी न भेजे हुये वेगवान् शत्रुओं को जीतने वाले, यज्ञभवन में पहुंचने वाले रथियों में श्रेष्ठ जिनको कोई नहीं मार सकता ऐसे जलको बढ़ाने वाले इन्द्र की रक्षा के निमित्त आगे करो ॥ ४ ॥

सुनोत सोमपाव्ने सोममिंद्राय वज्रिणे ।
पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित्पृणन्नित्पृणते मयःस० ३, ६, ३,

हे पुरुषो ! वज्रधारी सोमपान करने वाले इन्द्र के अर्थ सोम को सम्पादन करो । इन्द्रको तृप्त करने के निमित्त पुरोडाशों को पकाओ क्योंकि इन्द्र यजमान को सुख देताहुवा ही हवियों को ग्रहण करता है ।

भगवद्भक्ति

[ले० श्री पूज्य स्वामी भोले बाबा जी]

सखा निष्ठा ।

अशरीरं शरीरेषु जगत्कारणमच्युतम् ।
सुहृदं सर्व भूतानां कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

मंसाराम-महाराज ! सखाभाव के उपासकों का यह सिद्धान्त है कि ईश्वर और जीव दोनों सखा हैं यानी मित्र हैं और इन दोनों में ऐसा दृढ़-स्नेह है कि ईश्वर जीव बिना नहीं रहता और जीव ईश्वर बिना नहीं रह सका अर्थात् जीव न हो, तो ईश्वर को कोई नहीं जान सका और केवल जीव ही हो, ईश्वर न हो, यह हो ही नहीं सका, क्योंकि ईश्वर बिना जीव का होना असंभव है, परन्तु मेरा यह कहना है कि मित्रता बराबर वालों में होती है, छोटे बड़ों में नहीं हो सकी, फिर जीव

और ईश्वर में मित्रता कैसे है ? क्योंकि दोनों बराबर के नहीं हैं, जीव तो अनेक प्रकार की पीड़ा, जन्म मरण, पाप पुण्य में फंसा हुआ है, सब प्रकार से परतंत्र है और ईश्वर ऐसा है कि उसका स्वरूप मन वाणी का अविरूप है, वेद उसको नेति-नेति कहते हैं, माया के गुणों से अलग ईश्वर नित्य, निरोह, निर्विकार अच्युत, अनन्त, पूर्ण ब्रह्म, परमात्मा, सच्चिदानन्दघन है, फिर ऐसे विरुद्ध स्वभाव वाले जीव और ईश्वर का समभाव कैसे हो सक्ता है ?

मस्तराम–भाई ! यह तेरा कथन ठीक है कि मित्रता बराबर वालों में हुआ करती है। सुन, दो मित्र थे, जब उनकी मित्रता हुई थी, तब कुल, ढंग, मर्याद, बुद्धि, चतुराई, सुन्दरताई, वस्त्राभूषण आदि की सजावट इत्यादि सब सामग्री समान थी। पीछे भाग्यवश एक उनमें से महाराजा हो गया और दूसरा कंगाल हो गया। जैसे इन दोनों मित्रों का वृत्तान्त है, इसी प्रकार जीव और ईश्वर का वृत्तान्त यानी जैसा ईश्वर निर्विकार, प्रकाशवान्, ज्ञानानन्द स्वरूप है वैसा ही, जीव है, दोनों में कुछ भेद नहीं है, दोनों समान ही हैं परन्तु जीव माया से मोहित हो जाने के कारण अणु यानी छोटा और अल्पज्ञ हो गया और ईश्वर माया से मोहित न होने से अनन्त और सर्वज्ञ हो गया और माया से अलग भी रहा। यद्यपि ईश्वर ने अपने मित्र जीव के छूटने के लिये वेद और शास्त्र द्वारा उसको अपना और उसका स्वरूप बतलाया, अपना नाम प्रकट किया और सैकड़ों हजारों उपाय जैसे मंत्र, जप, यज्ञ, दान, दया, कर्म, ज्ञान, वैराग्य और नवधाभक्ति की प्रवृत्ति करी परन्तु यह जीव उस माया के मोह में ऐसा फंसा कि कुछ न समझा और अपना और अपने मित्र का स्वरूप संपूर्ण भूल गया। यदि वह अपने, ईश्वर और माया के स्वरूप को जानकर माया से छूटने के निमित्त उपाय करे तो फिर अपने मित्र से मिल जाय और परम आनन्द को प्राप्त हो।

मंसाराम–महाराज ! जब जीव और ईश्वर मित्र ही हैं और जीव ईश्वर की माया में फंसा हुआ है, ईश्वर जीव को माया से छुटाना चाहता है, तो फिर जीव माया में क्यों फंसा है। ईश्वर आप ही जीव को अपनी माया से क्यों नहीं छुटा लेता ?

मस्तराम–भाई ! यह शंका नयी नहीं है। ईश्वर दयालु और कृपालु है, जीव को प्रतिक्षण अपने समीप बुलाता रहता है परन्तु जीव ईश्वर के सन्मुख ही नहीं होता, तब ईश्वर का इसमें क्या दोष है। अग्नि का सब का शीत दूर करने का स्वभाव है, परन्तु जो अग्नि के समीप ही न जाय, तो अग्नि का इस में कुछ दोष नहीं है, इसी प्रकार ईश्वर सन्मुख होते ही जीव के सब पाप दूर करके अपना समीपी कर लेता है, ईश्वर के सन्मुख न होने में जीव का दोष है। सांसारिक और पारलौकिक सब कार्यों की रीति और पद्धति का जानने वाला ईश्वर से अधिक कोई दूसरा नहीं है और मित्रता की रीति भी भगवत् से बढ़कर कोई दूसरा नहीं जानता। हे मंसाराम ! मित्रता की यह रीति है कि मित्रता स्थिर रखने के लिये दोनों मित्र बराबर आचरण करते हैं। जैसे कि यदि एक मित्र शिष्टाचार करता है, तो उसके बदले में दूसरा मित्र उससे भी बढ़कर शिष्टाचार करके दिखाता है और विवाहादि में यदि एक मित्र सौ रुपये उठाता है, तो दूसरा मित्र भी उसके विवाह में उतने ही उठाता है। इस रीति के अनुसार यदि ईश्वर सन्मुख हुए बिना जीव की माया को दूर करके जीव से मिलने को आवे, तो मित्रता की

रीति से विपरीत हो जाय।

मंसाराम–महाराज ! ईश्वर ही जीव से प्रथम मिलने को क्यों नहीं आता, क्योंकि मित्रता में मित्र का अपने घर आना अथवा आप मित्र के घर जाना दोनों बराबर हैं ?

मस्तराम–भाई ! भगवत् प्रथम से ही आने को तैयार हैं और भली प्रकार दृढ़ भी करते हैं, कभी चूक नहीं करते, क्योंकि आना और मित्र का सन्देशा वर्णन करके संदेशा पहुंचाने वालों के समान वेद और शास्त्र को भेज कर मिलने के लिये सन्देशा भेजते रहते हैं और अपना नाम और लक्षण प्रकट करते रहते हैं, मिलने का उपाय बताते हैं और सर्वदा सर्वत्र सन्मुख ही रहते हैं। इस प्रकार ईश्वर की कोई चूक नहीं है, जीव की ही चूक है कि कदापि ईश्वर से मिलना नहीं चाहता और न सन्मुख ही होता है।

मंसाराम–महाराज! यहां तो प्रश्न यह है कि ईश्वर अपने मित्र जीव को माया से क्यों नहीं छुड़ा देता। आप मिलने की बात कहते हैं, इसलिये प्रश्न अन्य है और प्रश्न का उत्तर अन्य है ?

मस्तराम–भाई ! यह शंका ठीक नहीं है। माया से छुड़ाने का तात्पर्य ईश्वर से मिलने का है और ईश्वर से मिलने का अभिप्राय माया से छुड़ाने का है। बात एक ही है, मात्र कहने में फेर फार है। जैसे कोई किसी के पास जाता है, तो अपना स्थान छोड़े बिना नहीं जा सका; इसी प्रकार माया के छोड़े बिना जीव ईश्वर के पास नहीं जा सका। माया का छोड़ना ही ईश्वर के पास जाना है।

मंसाराम–महाराज ! वेदमें कर्म करने को भी तो कहा है, कर्म करने वाला माया से कैसे छूट सका है ?

मस्तराम–भाई ! सृष्टि की परम्परा बने रहने के निमित्त वेद में कर्म बताया है, कर्म से मुक्ति नहीं होती, मुक्ति तो ज्ञान से ही होती है यानी पुण्य पाप दोनों ही छूट जाने से मुक्ति होती है, इसलिये कर्म की वेद में निन्दा भी की है। कोई मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सका, इसलिये अन्तःकरण की शुद्धि के लिये ईश्वर की प्रीति के अर्थ जब तक अन्तःकरण शुद्ध न हो कर्म करना चाहिये, अन्तःकरण शुद्ध होने पर तो ईश्वर के भजन में ही लगना उचित है।

मंसाराम–महाराज ! यह निश्चय कैसे हो कि जीव और ईश्वर पुराने मित्र हैं ?

मस्तराम–भाई ! यह बात श्रुति में स्पष्ट लिखी है और श्रीमद्भागवत के चौथे स्कन्ध में पुरञ्जन की कथा में विस्तार से निर्णय करके लिखा है कि जीव और ईश्वर दोनों परस्पर मित्र हैं। इसके सिवाय जहां नवधा भक्ति का वेद और शास्त्रों में निर्णय किया है, वहां सखाभाव की भक्ति का वर्णन किया है। यदि जीव और ईश्वर परस्पर मित्र नहीं होते, तो सखाभाव की भक्ति और उस की रीति क्यों लिखी जाती। यह सखाभाव के आराधन की रीति दूसरी निष्ठाओं के अनुसार ही है, केवल भेद इतना है कि दूसरी निष्ठाओं में स्वामी इत्यादि जान कर सेवा पूजा की जाती है और इस निष्ठा में मित्र और बराबर समझ कर सेवा होती है। भगवत् ने चौथे स्कन्ध पुरञ्जन उपाख्यान में कहा है कि दूसरी भक्ति तो गुरु के उपदेश से प्राप्त होती है और सखाभाव और आत्म निवेदन का मैं स्वयं उपदेश करता हूं।

हे मंसाराम ! जिस घड़ी इस प्रकार से सखाभाव में भक्त का मन लीन हो जाता है, उस घड़ी स्वयं भगवत् भक्त के हृदय में प्रवेश करके प्रकाश करते हैं। जो भाग्यवान् अधिकारी इस रस

का पान करता है, वह तुरन्त मतवारा और बेसुधि हो जाता है। सब सखाभाव वालों के मन का भगवच्चरित्रों में लगना अपने २ मन की रुचि के अनुसार है। जैसे कि बद्रिकाश्रम में नर नारायण सखा हैं, उनकी प्रीति तप और ज्ञान के चरित्रों में है। अर्जुन और श्रीकृष्ण की प्रीति महाराजों के सदृश है, व्रज-गोप कुमारों की प्रीति गोपकुमारों के खेल के सदृश है और अयोध्या के राजकुमारों की प्रीति भगवच्चरित्रों में महाराजकुमारी की हंसी और खेल के सदृश है। इस प्रकार सब के भाव अलग २ हैं। जिस और जिसकी चाह होती है, वह उसी भांति की तैयारी से भगवत् सेवा और आराधन किया करता है।

हे मंसाराम! यह आराधन, सेवा, पूजा नित्य नव वार या सात वार होनी चाहिये। यदि इतना न हो सके, तो कम से कम तीन वार होना चाहिये। स्तोत्र पाठ, नाम और मंत्रजप अलग रहा। नित्य नियम की सेवा पूजा के सिवाय मन से हर घड़ी ध्यान उसी ओर लगा रहना चाहिये, क्योंकि सब सेवा और उपासना उसी के लिये है, यही परम सिद्धान्त है। आज कल यह सखाभाव की उपासना माधुर्य और शृंगार के विचार से प्रायः प्रवृत्त है, चाहे रामोपासक हों, चाहें कृष्णोपासक हों, ऐसा ही करते हैं। सिद्धान्त विचार से भी माधुर्यभाव में जितनी प्रीति की दृढ़ता और वृद्धि शीघ्र होती है, उतनी अन्य भाव में शीघ्र नहीं होती।

हे मसाराम! थोड़े दिन हुए कि अयोध्या में रामसखे महाराज और उनके चेले प्रेमसखे सखाभाव की ध्वजा और भक्ति देश के राजा हो चुके हैं। रामसखे जी का एक ग्रन्थ इस भाव का है। उसमें माधुर्य को मुख्य रक्खा है। व्रज में इस बात का निर्णय किया गया, तो वहाँ विशेष करके माधुर्य की प्राधान्यता सर्वावस्था में उचित और योग्य ठहरी क्योंकि व्रज में भगवत् के सब चरित्र शृंगार और माधुर्य के स्वरूप ही हैं। अनन्यभाव भगवत् में यह बात है कि उपासक को भूल कर भी अपने उद्धार और मोक्ष के लिये दूसरे देवता का चिन्तवन न होवे। जैसे अन्यता सब निष्ठाओं में सिद्धान्त है, इस प्रकार इस निष्ठा में है।

हे मंसाराम! इस निष्ठा की और इस निष्ठा के उपासकों की महिमा वर्णन नहीं हो सकी, क्योंकि इस निष्ठा में, भगवत् में और इस निष्ठा के उपासकों में बाल बराबर भी भेद नहीं है, सब एक हैं। भगवत् उपासकों ने इस निष्ठा को पांचों रसों में से एक रस वर्णन किया है। उस रीति के अनुसार जो चतुराई में, , कटाक्ष सहित बोलने में, शीघ्र समझने में, हावभाव में, शीघ्र उत्तर देने में प्रवीण, प्रगतम, नवयौवन और परम शोभायमान हैं, जिनके मुख के सामने सब शोभा और सुन्दरता धूलि है, जो सब अंगों में यथायोग्य वस्त्राभूषण पहिने हुए हैं, ऐसे श्रीकृष्ण, श्रीराम अथवा विष्णु विषयालम्बन हैं। अर्जुन सुदामा, श्रीदामा आदि व्रजग्वाल और सखाभाव के दूसरे भक्त आश्रयालम्बन हैं। माधुर्य, हंसी ठट्ठा, आपस में खेलना, एक साथ भोजन करना, एक संग शयन करना, एक साथ बैठना, एक साथ रहना, एक ही साथ उपवन, पुष्पवाटिका आदि में विहार करने को जाना, आपस में शृंगार और छवि की सजावट करना इत्यादि हजारों भाव प्रथम और दूसरी सामग्री अर्थात् विभाव और अनुभाव की सामग्री है। आठों सात्विक इस रस में अपने प्रवृत्ति करते हैं, यह तीसरी सामग्री है और यह सरूप रस शृंगार से मिश्रित हैं, इसलिये तेतीसों

प्रकार की व्यभिचारी यानी चौथी सामग्री इस रस में वर्तमान है। स्थायी भाव इस रस का यह है कि उस परम मनोहर मित्र के स्नेह में इतनी दृढ़ता और पक्वता हो कि स्वप्न या ध्यान में भी कभी मन की लगन दूसरी ओर न जाय और चित्त की अचल वृत्ति उस मनोहर मित्र के प्रेम में मग्न रहे। एक भक्त प्रार्थना करता है।

हे श्रीकृष्ण! हे दीनवत्सल! हे प्रणतार्त्ति-भञ्जन! महाराज! मैंने सुना है कि आपके न्याय और रक्षा से कोई बली किसी दुर्बल को सता नहीं सका, आपके राज्य में दीन और दुःखियों का न्याय होता है, परन्तु हे कृपासिन्धो महाराज मेरे लिये वह आपका न्याय और आपकी कृपा न जाने कहां चली गयी कि यह महामोह दिन रात भांति २ के उपद्रव करता रहता है, इसी जन्म में नहीं, अनेक जन्मों से दुःखी और दीन कर रक्खा है। आपकी कृपा और आपके न्याय में कुछ सन्देह नहीं है, मेरी ही अभाग्य दशा है कि उस पापी के पंजे से छूटने नहीं पाता। अब आपके श्रीद्वार पर दीन होकर पुकारता हूं कि एक बार किसी प्रकार उसके उपद्रव से छुड़ा कर मेरे मन को उस अपने रूप अनूप के चिन्तवन में लगा दीजिये, जो सब वेद और शास्त्रों का सार और एकान्त निज भक्तों का जीवन आधार है।

कर कानन मग बनी पहुंची धनुहीं शर पंकज पाणी लिये।
सखिका संग डोलत खेलत हैं सरयू तट चौदह हाय हिये॥
तुलसी अस बालक सों नहिं नेह, कहा जप योग समाधि किये
नरसो वर शूकर श्वान समान कहो जग में फल कौन जिये॥

कथा अर्जुन की।

महाराज अर्जुन के सखाभाव का किस से वर्णन हो सक्ता है? जिन अर्जुन की भावना और भक्ति के वश होकर पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दघन जो मन वाणी का अगोचर है, वह ही उनका रथवान हुआ। यद्यपि महाराज अर्जुन श्रीकृष्ण स्वामी के फुफेरे भाई थे, परन्तु उनका सखाभाव मुख्य था, बैठना, खाना, पीना, लीला विहार, हंसना खेल और बोलना मित्रवत् था, युधिष्ठिर और भीमसेन आदि के सदृश भाईचारे की रीति न थी। भगवत् ने जो २ इनकी सहायता की वह विस्तार से महाभारत में लिखी है, उसके वर्णन करने का यहां प्रयोजन नहीं है, क्योंकि मित्रता में जिस किसी से जो कुछ परस्पर भलाई हो, सब योग्य ही है। निष्कपटता का एक वृत्तान्त सुनाता हूं।

जब महाराज अर्जुन सुभद्रा जी की शोभा और सुन्दरता देख कर हजार जीव से आसक्त हो गये तब उन्होंने सच्ची मिताई के विचार से प्रसन्नता और उदासी का कुछ शोच न किया अपनी प्रीति और विकलता का वृत्तान्त सत्य २ श्रीकृष्ण स्वामी से कह दिया। यद्यपि सुभद्रा जी श्रीकृष्ण की बहिन थीं परन्तु अपने मित्र की रुचि रखना और उसके मनोरथ पूर्ण करना उनके चित्त में इतना बसा कि जगत् के उपहास्य और लोकनिन्दा पर दृष्टि न करके अर्जुन को यह गुप्त मंत्र दिया कि यदि वसुदेव और बलदेव जी से विवाह के लिये कहता हूं, तो न जाने अंगीकार करें या न करें, इसलिये तुम संन्यासी का वेष धारण करके द्वारका में जाकर अपने बल से सुभद्रा को ले आओ, पीछे वसुदेव और बलदेव जी को समझ कर प्रसन्न कर लिया जावगा। अर्जुन ने ऐसा ही किया और जब बलदेव जी अर्जुन के मारने को उद्यत हुए तो आप श्रीकृष्ण ने उनको समझा कर उनका क्रोध शान्त किया।

एक बार महाराज अर्जुन सुभद्रा जी के

महल में थे। श्रीकृष्ण ने उनको अपनी बैठक के स्थान पर नहीं देखा, तो वे बहुत विकल हुए, और लज्जा छोड़ कर सुभद्रा जी के महल में चले गये, मित्रता के हंसी ठट्ठे में लीन हुए, इस प्रकार अतिशय स्नेह को दृढ़ किया।

हे संसारी! भगवत् की कृपालुता और दीनवत्सलता पर विचार करना चाहिये कि भगवत् आप मित्रशत्रु, सुख दुःख, पुण्य, पाप इत्यादि माया के प्रपंच से जहां तक भीतर बाहर की आंखें पहुंचे, वहाँ तक निर्लेप और न्यारे हैं, फिर भी ऐसे चरित्र जो करते हैं, तो उनसे भक्तों को बोध और दूसरे लोगों को भक्ति के हेतु शिक्षा देते हैं कि जो कोई जिस भाव से मेरा भजन करता है, मैं उसी भाव से प्रकट होकर भक्त की भावना पूर्ण करता हूं। गीता में इस बात का प्रण दृढ़ किया है।

कृ–जैसे जो मुझ को भजें, मिथ्यादिक के भाव।
तैसे मैं उनको भजूं, मेरा यही स्वभाव॥
मेरा यही स्वभाव, भक्त कूं नाहीं तजता।
जो भजता है मोय, उसे मैं निशिदिन भजता॥
भोला! भज विश्वेश, चित्त दे क्षण क्षण ऐसे।
कामी जैसे नारि, द्रव्य कूं लोभी जैसे॥

कथा सुदामा जी की।

सुदामा जी की कथा भागवत् और विष्णु पुराण में विस्तार से लिखी है और भाषा में कवि लोगों ने कई एक सुदामा चरित्र बनाये हैं, इसलिये संक्षेप से वर्णन करता हूं। जब श्रीकृष्ण स्वामी ने सान्दीपन गुरु के पास वेद और अन्य शास्त्र पढ़े थे, उस समय की उनकी सुदामा जी से मित्रता थी। जब पढ़ चुके तब दोनों का विश्लेष हुआ। सुदामा जी ऐसे दरिद्री थे कि न तो घर में कुछ अन्न दाना था और न तन पर वस्त्र था। एक दिन उनकी सुशीला स्त्री ने कहा कि बड़े आश्चर्य की बात है कि जिसका मित्र लक्ष्मीपति कृष्ण महाराज है, वह ऐसा दीन और दरिद्री होवे आप उनके पास जाइये। सुदामा जी ने बहुत मने किया परन्तु सुशीला ने ऐसे उत्तर दिये कि अन्त में उन्होंने हरि के समीप जाने का निश्चय किया। सुशीला थोड़े से सांठी के चाँवल कहीं से मांग लायी और सुदामा जी को देकर कहने लगी कि ये भगवत् की भेट करना। सुदामा जी चांवल लेकर चल दिये, भगवत् दर्शन के प्रेम में भरे हुए रात को किसी ग्राम में टिके, वहां भगवत् को अपने मित्र से मिलने का ऐसा प्रेम उमगा कि रातों रात सुदामा जी को द्वारका के समीप बुला लिया।

प्रभात को जब सुदामा जी थोड़ी दूर चले, तो उन्हें एक नगर दिखायी दिया, नाम पूछा, तो द्वारका सुन कर हर्षित हुए, स्नान, पूजा करके पूछते २ श्रीकृष्ण महाराज की राजधानी पर आये द्वारपालों ने श्रीकृष्ण के पास जाकर दण्डवत् करके निवेदन किया कि एक ब्राह्मण फटी धोती फटी चादर पहिने हुए नंगे पांव दरिद्री सा आपका नाम पूछता है, और अपना नाम सुदामा बताता है। सुदामा नाम सुनते ही भगवान् ने बेसुधि हो कर दौड़ कर पहिले चरण पकड़े और फिर छाती से लगा लिया। बहुत दिनों पीछे दोनों मित्र मिले थे, इसलिये बड़ी देर तक ऐसे मिले रहे कि मानों एक तन हो गये हैं। पीछे भगवत् हाथ में हाथ लेकर मित्र को रंग महल में लाये और दिव्य पलंग पर बैठाल कर कुशल प्रश्नादिक पूछने लगे। इतने में रुक्मिणि जी पूजा की सामग्री ले आयीं, भगवत् और रुक्मिणी जी दोनों चरण धोने लगे। उस समय का एक सवैया किसी कवि ने कहा है:–

ऐसे बेहाल बेवांयन सों भये कंटक जाल गुंधे पग जोये।
हाय सखा दुख पाये महा तुम आये इते न कितै दिन खोये
देखि सुदामा की दीन दशा करुणा करि के करुणामय रोये।
पानी परात को हाथ हुओ नहिं नैनन के जल सों पग धोये॥

पांव धोये पीछे भगवत् ने अपने पीताम्बर से पोंछ कर पूजा की विधि के अनुसार पूजा करी और फिर पूछा कि हमारी भाभी ने कुछ हमारे लिये भी दिया है, तुम्हारा स्वभाव और भाँति का है कहीं ऐसा न हो कि तुम ही पचा जाओ और हम देखते ही रह जायं। सुदामा जी साँठी के चांवल बगल में छुपाने लगे। भगवत् समझ गये कि कुछ सौगात बगल में अवश्य है। इधर तो भगवत् उसके लेने के दांवघात में हुए और उधर सुदामा जी लज्जा के कारण छुपाने के विचार में लगे। इतने में जीर्ण कपड़ा फट गया और चांवल धरती में बिखर गये। भगवत् ने उनमें से एक मुट्ठी चाँवल लेकर शीघ्र ही मुख में डाल लिये और दूसरी मुट्ठी लेकर फिर मुख में डालना चाते थे। कि रुक्मिणी जी ने हाथ पकड़ कर दूसरी मुट्ठी खाने से रोक लिया कोई २ भक्त और तिलककारों ने हाथ पकड़ लेने का हेतु यह लिखा है कि एक मुट्ठी चांवल से तो दोनों लोकों की सम्पत्ति सुदामा को देदी, दूसरी मुट्ठी से कौन सी वस्तु देंगे? किसी ने यह लिखा है कि रुक्मिणी जी को भय हुआ कि मैं लक्ष्मी का स्वरूप हूं, ऐसा न हो कि भगवान् दूसरी मुट्ठी के बदले में मुझे देदें और किसी का यह कथन है कि रुक्मिणी जी को भगवत् की सुकुमारता, स्वल्पाहार, कोमल, मधुर पदार्थों के भोजन का स्वभाव होने से यह चिन्ता हुई कि सांठी के चांवल अवगुण न करें परन्तु मुख्य अभिप्राय रुक्मिणि जी का हाथ पकड़ लेने से यह है।

रुक्मिणी जी का अभिप्राय–महाराज यह सौगात आपके मित्र के घर की है, ऐसी सौगात का बहुत स्वादिष्ट पदार्थ अकेले आप ही आप खा लेना उचित नहीं है! इसमें हमारा भी भाग है, यदि आप कहें कि हमारे मित्र की लाई हुई सौगात में तुम्हारा क्या झगड़ा है, तो आपके भक्तों के पास धरा ही क्या है, वे तो भूखे भजन उपासना मस्त होते हैं, उनको किसी सौगात के भेजने की क्या सामर्थ्य है यह सौगात मेरी जेठानी के व्यवसाय से आपको प्राप्त हुई है, इसमें मेरा अधिकार है, चार बहिनों को बुला कर गीत गवा कर सब को भाजी रूप से भेजूंगी।

हे मंसाराम! इस चरित्र के होने के पीछे सेवकों ने जेवनार के तैयार होने का संदेशा निवेदन किया। दोनों मित्रों ने एक साथ बैठ कर भोजन किया। इस प्रकार सात दिन सुख आनन्द में बीत गये। जब सुदामा जी ने बहुत आग्रह किया, तब भगवत ने उन्हें विदा किया और दूर तक उनको पहुंचाने के हेतु गये, परन्तु चलते समय दिया कुछ नहीं, सुदामा जी मन में कहने लगे।

सुदामा–(मन में) आखिर! पले तो ग्वालियों के घर ही हैं, क्या हुआ जो अब राज ऐश्वर्य मिल गया! यदि हमको कुछ दे देते, तो क्या खजाने में टोटा आ जाता या कुछ कम हो जाता! परन्तु अच्छा हुआ, जो कुछ नहीं दिया, अब उस बलात्कार से भेजने वाली स्त्री से कहूंगा कि धन को भले प्रकार से यत्न के साथ घर में रखले, क्योंकि बहुत खजाना मिल गया है। अरे! भगवान् परम हितकारी और सच्चे स्नेही हैं, भगवत् ने इस विचार से मुझे कुछ नहीं दिया कि धन के पाने से भगवद्भजन में बाधा न पड़ जाय! जो कुछ हुआ अच्छा ही है।

इस प्रकार सोचते विचारते सुदामा जी

अपने ग्राम के पास आ पहुंचे। क्या देखते हैं कि द्वारका से भी सहस्रगुणी अच्छी सोने और मणि गणों की ऐसी महलात खड़ी है कि कभी न देखी थीं, न सुनी थीं। लोगों से पूछा कि यह किसका नगर है और इसका नाम क्या है, तो उत्तर मिला कि आपका ही नगर है, सुदामापुर नाम है। ये बातें हो ही रहीं थीं कि दासदासी दौड़े, और हाथों सुदामा जी को महलों में ले गये, सुशीला आकर चरणों में पड़ी। सुदामा जी इस भगवत् की कृपा को देख कर भगवत् को जो व्यंग बचन कहे थे, उनका शोच और पश्चात्ताप करने लगे, ऐश्वर्य के सुख में कभी भजन और आराधन न भूले किंतु पूर्व से भी अधिक तत्पर हुए।

अच्युत, अनन्त, सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म, परमात्मा की यह दयालुता, कृपालुता, भक्त-वत्सलता विचार कर और मित्रभाव के निबाहने के भाव पढ़ सुन कर जो निर्भर आनन्द में मग्न नहीं होते, उन्होंने व्यर्थ ही जन्म लेकर अपनी माता का यौवन नाश किया है।

कृष्ण-सच्चिदानन्दमय देव अनन्त विभु, शुद्ध, बुद्ध निर्मुक्त।
भक्तन हित लीला करे, दया कृपा संयुक्त॥
दया कृपा संयुक्त, मित्रता पूर्ण निभावे।
यहां भोग यश देय, आप सा अन्त बनावे॥
भोला! तज दे भोग, देव अज भज ले चिन्मय।
नित्य निरंजन एक, सत्य, सुख अद्वय सच्चिदानन्दमय॥

भीलनी के बेर

(ले० श्री० गंगाविष्णु पाण्डेय विद्याभूषण "विष्णु")

सबरीकी भक्ति से प्रसन्न हैं कृपानिधान।
भेद छांड़ि बेर बेर बेर मांमि खात हैं॥
एक बेर खात एक हाथ एक देत भ्रात।
भीलनी के बेर से न रामजी अघात हैं॥
बेर बीनि बीनि चीन्हि चीन्हि देत भीलनी है।
विष्णु राम हाथको पसार लेत जात हैं॥
विश्व जासों मांगत सो मांगत हैं भीलनी से।
भीलनी के भाग्य पै सुरेशहू सिहात हैं॥

विश्वास

[ले० श्री एक अज्ञान नारी हृदय]

प्रिय पाठक गण! "विश्वास" शब्द कितना अनुपम व अलौकिक है, जिसके स्मरण मात्र से चित्त प्रसन्न, शान्त, स्थिर हो जाता है। और व्यवहार में लाने से तो बड़े से बड़ा कार्य सुगमता पूर्वक हो सकता है। केवल चित्त को एकाग्र करने की आवश्यकता है और यही तनिक कठिन है परन्तु यत्न करने से तो कुछ कठिन नहीं बस चित्त को एकाग्र करके हम चाहे जिस पर विश्वास करने लगें वह प्रत्यक्ष हो जायेगी जैसे मनुष्य पर देवता पर वृक्ष पर प्रतिमा या चित्र पर सगुण या निर्गुण ब्रह्म इत्यादि किसी पर हम अटल विश्वास करें तो निस्सन्देह वह हमको कल्याण कारक सिद्ध होगी और अपनी चरम सीमा तक पहुंचने पर अनन्त सुख अर्थात् मोक्ष तक के देने में समर्थ हो सकेगा।

प्रिय भाई व बहिनों आप इसे मूर्ख का

प्रलाप समझेंगे कि कहीं "विश्वास" से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है परन्तु यदि आप एक बार परिक्षा करके देखेंगे तो इस मूर्ख की बात में आपको सत्यता का प्रकाश दिखलाई देगा। प्रथम आप स्वप्न पर ही विचार करिये कि जब आप निन्द्रावस्था में होते है तब स्वप्न संसार में भ्रमण करते समय आप उस पर कितना अधिक विश्वास कर लेते हैं। भूल कर भी यह विचार नहीं करते यह स्वप्न मिथ्या है वरन नितान्त सत्य प्रतीत करते हैं। यदि उस समय कोई कहे भी कि यह आप स्वप्न देख रहे हैं। यह असत्य है, तब भी आप असंभव से असम्भव बात पर भी सत्य की भाँति विश्वास करते जावेंगे और असत्य का विचार तक हृदय में न आवेगा। परन्तु जब निन्द्रा दूर होगी तब मालूम होगा कि असत्य था। इसी प्रकार हम इस मिथ्या संसार को जाग्रत अवस्था में सत्य प्रतीत करके अपना घर माने बैठे हैं। प्रति दिन मनुष्यों को मरते जन्मते व दुख सुखादि भोगते देखते हैं और यह भी जानते हैं कि हमको भी संसार चक्र के अनुसार यही होना है परन्तु यह तनिक भी नहीं विचारते कि हम इस नश्वर पर किस वास्ते अहंकार करें और वृथा अधर्म की गठरी सिर पर न बढावें। न जाने हमको किस समय यहाँ से महा प्रस्थान करना पड़े इसलिये कुछ संग्रह पारलौकि वस्तु अर्थात् धर्म का करलें परन्तु नहीं यह भूल कर भी न विचारेंगे कि यह संसार असत्य है। कारण वही कि हम संसार पर सत्य की भाँति विश्वास करते हैं और हर एक वस्तु को सत्य मानते हैं। यह विश्वास ही आकाश पृथ्वी को स्थिर किए हुये है, यदि विश्वास का नाम संसार से लुप्त हो जावे तो कुछ शेष नहीं रहता। संसार विश्वास पर ही बना हुआ है बिना इसके एक क्षण भर भी निर्वाह नहीं। पिता का पुत्र पर, स्त्री का पति पर, गुरु का शिष्य पर, सेवक का स्वामी पर भाई का भाई पर, भक्त का इष्ट देवता पर परस्पर विश्वास ही प्रेम, भक्ति का कारण है। इस तरह यह सिद्ध हो गया कि जगत में विश्वास एक बड़ी अमूल्य वस्तु है और यह ऐसी सुगमता से प्राप्त होती है कि प्रत्येक धनी निर्धन इसको हर समय व्यवहार में लासकते हैं। तब इस अमूल्य वस्तु का दुरुपयोग न करके सदुपयोग में लगाया जावे तो क्या ही अच्छा हो अर्थात् सांसारिक असत्य वस्तुओं में व्यय न करके एक सत्य अविनाशी परमानन्द की प्राप्ति में लगादें तो अति उत्तम होगा। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कार्य आरम्भ कैसे किया जावे? इसका उत्तर अन्तःकरण यह देता है कि प्रथम अधर्म से चित्त हटाना शुरु करके हमको काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार इन पांचों शत्रुओं का नाश कर देना चाहिये, फिर शम, दम, सत्य, अहिंसा आदि सत्कार्यों से इन्द्रियों को वश में करके अन्तःकरण की शुद्धि करें फिर शुद्ध अन्तःकरण में अपने हृदय सिंहासन पर अपने इष्टदेवता (जिस पर विश्वास जम जावे) परम ब्रह्म, सच्चिदानन्द, सर्वव्यापी, निर्गुण अथवा सगुण रूप पर अटल विश्वास करके स्थापित करलें और निशदिन उसी के स्मरण, चिन्तन, कीर्तन, ध्यान में समय व्यय करें। संसारिक कार्यों को करते हुए भी उसमें लिप्त न होकर कार्य के फलाफल को ईश्वराधीन करके निश्चिन्त हो जाना चाहिये। इस साधन के करने से अल्प काल में ही अनन्त सुख शान्ति का अनुभव करने लगेंगे।

प्रिय पाठको! ऊपर लिखे नियम के अनुसार चलना सुगम नहीं है। इस वास्ते भवसागर में नौका रूपी सद्गुरु की आवश्यकता है जो बड़े

भाग्य से मिलते हैं तुलसी दास जी ने कहा भी है:-

सन्त समागम हरि कथा तुलसी दुर्लभ दोय।
दारा सुत अरु लक्ष्मी, पापी के भी होय॥

पुरुषों को तो भाग्य से यह प्राप्त भी हो जाते हैं परन्तु स्त्रियां इनसे भी वंचित रहती हैं क्योंकि प्रायः सन्त महात्मा इनको उपदेश देना तो दूर रहा दर्शन करने की भी अनुमति नहीं देते। इसलिये उनके लिये यहां भी सुविधा नहीं हो सकती है। इससे उनको चाहिये कि धार्मिक पुस्तकों द्वारा उपदेशामृत पान करें और उन पर चलने का प्रयत्न करें। गुरु के स्थान को पति से पूर्ण करके उनके आदेशानुसार कार्य करके उन्हें प्रसन्न रख कर फिर जगदीश्वर पर अटल विश्वास स्थिर करके धर्मोपार्जन में समय व्ययतीत करना चाहिये और असत्य संसार के व्यर्थ झंझट दुःख, सुख, हानि, लाभ, यश और अपयश को ईश्वरार्पण करके परम सुख का अनुभव करें क्योंकि उनकी चिन्ता से कोई लाभ नहीं वे तो ईश्वराधीन हैं ही रामायण की चौपाई इस बात की पुष्टि करती है।

सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनि नाथ।
हानि लाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ॥

फिर वृथा हर्ष शोक या चिन्ता करने से क्या लाभ है क्योंकि यह सब तो केवल विघ्न डालने के लिये हैं क्योंकि रामायण में कहा है:-

अति कराल नाना जंजाला तेई, अति दुर्गम शैल विशाला।

अर्थात् राम कथा रूपी सरोवर में स्नान करना सहज नहीं है उसमें अनेक विघ्न स्वरूप शैल तथा नदी रूपी कुतर्क व कुसंगियों के वचन रूपी सिंह व सर्प इत्यादि विघ्न कारक हैं परन्तु

"सकल विघ्न व्यापहिं नहिं तेही।
राम कृपा करि चितवहि जेही॥

इसलिये "राम कृपा बिन मिलहिं न सन्ता" राम कृपा प्राप्त करें तो सब सुगम हो जावें इसलिये जगदीश्वर पर विश्वास करना सीखें और कैसा विश्वास अटल, अचल, दृढ़, गंभीर शान्त और यह निश्चल और बिना हरि कृपा के संभव नहीं। इस वास्ते उसी ईश्वर के चरण कमलों में ध्यान रख कर प्रार्थना करें कि यह अलभ्य वस्तु, अटल विश्वास, दया करके हमको प्रदान कीजिये हम आपकी शरणागत हैं।

विनोद

[ले० श्री पुरुषोत्तमनाथ जी त्रिपाठी]

बाल विनोद नहीं, वृद्ध विनोद है। लौकिक नहीं, पार लौकिक विनोद है। धर्म का नहीं, भागवत् धर्म का विनोद। विनोद सन्त महात्मा का नहीं, भावुक भक्तों का। चोर जार का नहीं, चोर जार शिखामणी का। विनोद फाल्गुण का नहीं, फागुन के रसिये का। विनोद राज का नहीं, वृजराज का। संसार का नहीं, कल्याण का। भक्ति भाव और भक्ति उपासना, इन ग्रंथिथ शब्दों का अर्थ या भाव-भावुक भक्त समान ही सरहाना करते हैं। परन्तु पुराणादि एवं आचार्य्य महानुभाव भिन्नता प्रतिपादन करते हैं। और करना ही चाहिये, क्योंकि जब चार साम्प्रदाय हैं, तब अपनी अपनी साम्प्रदायानुसार लक्ष्य एक होते हुये भी प्रत्येक आचार्य्य महाप्रभुओं ने भगवत् प्राप्ति अथवा जीव के कल्याणार्थ सुगम मार्ग का अनुकरण करते हैं। या यों कहिये कि शिक्षा देते हैं।

जो प्रभु निरूपम लावण्ययुक्त होने पर भी मयूर पक्ष धारण करके भाव युक्त भक्तों को प्रचुर

आनन्द दायक होते हैं, जो माया रूप वस्त्र के आवर्ण से रहित होते हुये भी पीतांबर के आवर्ण से अधिक सुशोभित जान पड़ते हैं, जो सत् चित् आनन्द पूर्ण ब्रह्म होते हुये भी पृथ्वी का भार उतारने के लिये नन्द के घर अवतार लेकर स्वयम् लीला करते हैं, जो त्रिलोकी के नाथ होते हुये भी एक गोप ग्वाल के रूप में अपना परिचय देते हैं, जो जगत् के अन्नदाता होते हुये भी ब्राह्मण पत्नियों से अन्न की भिक्षा माँगते हैं, जो अखंड ब्रह्मांड के सहायक होकर भी श्रीबलरामजी की सहायता लेते हैं, जो योगियों के हृदय में रमण करते हैं, और इधर रमणरेती में लोटते एवं गायों को चराते वृज स्थली में विचरते हैं, जो विश्वंभर होकर भी गोवर्द्धन का भार उठाने की लीला करते हैं, जो मदन का दमन एवं कंस तथा कालीय भुजंग का गर्व गंजन करते हैं, जो सब लोगों को अपने उदर में धारण करके भी दामोदर कहला कर अपने को गोप बाल प्रमाणित करते हैं, जो भय के भी भय-दायक होते हुये भी यशोदा जी का भय रखते हैं, जो एक बार द्रौपदी के सतीत्व की रक्षा के लिये असंख्य वस्त्रों को प्रदान करते हैं, वही दूसरी बार कात्यानाव्रत करती हुई गोपियों के वस्त्रों का हरण करते हैं, जो नादविन्दु ध्वनि और मूर्द्धना का कारण होने पर भी वेणु नाद में ही आनन्द मानते हैं, जो स्वयंम रस होते हुये भी 'रसो वैसः' रास के रसका आस्वादन करने के लिये निरन्तर तत्पर रहते हैं, जो नित्यानन्द होते हुये भी श्रीराधिका जी के मान से खिन्न हृदय होते हैं, जो असंग होने पर भी वृज बनिताओं के प्रेम पाश में बद्ध हैं, जो काम दोष रहित होते हुये भी रसशास्त्र में नितान्त निपुण हैं, जो एक ओर अद्वितीय होने पर भी असंख्य गोपियों में से प्रत्येक गोपी को प्रसन्न करने के लिये असंख्य श्रीकृष्ण रूप धारण करते हैं, जो प्राणियों के लिये सामान्य होने पर भी पाँडवों के मित्र माने गये हैं, और जो सब के लिये शरण भूत तथा निराधार के आधार एवम् सर्वथा स्वाधीन होने पर भी भक्तों के पराधीन हैं यह सब क्या प्रभु का विनोद नहीं है? इन सब भावों को भक्तों की लालसा पूर्ण करने के लिये अपनी लीला से प्रभु धारण करते हैं। भक्ति के क्षेत्र में जिस प्रकार प्रभु अपनी लीला से भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये नाना भाव धारण करते हैं उसी प्रकार सृष्टि क्षेत्र में भी प्रभु स्वयं-मेव नाम युक्त असंख्य रूप धारण करके लीला विनोदार्थ जगत की रचना करते हैं।

सम्मिलन

(ले० श्री० बी० एल० सराफ बी० ए०)

मनोवेग की प्रेम वाहिनी धारा अब तक रुंधित थी,
मार्ग न पाकर बहिर्गमन को व्याकुल किन्तु सुसंचित थी।
मिलन आस की कललोलों से आलोड़ित भी किंचित थी,
मलिन वारि परिपूर्ण इसीसे जगसेवा से वंचित थी।
उसे आज भागीरथी यमुनादिक के प्रेम से,
बहने दो आकृष्ट हो ब्रह्म उदधि में क्षेम से ॥१॥

जग के ये छोटे सम्मेलन प्रेमोदधि में मिलने को,
नहीं प्रथक होने के साधन दीन हीनहित खिलने को।
दुखित अति भूखे मुखड़ों के रुदन सुने हृद हिलने को,
पतितों को अपना अपने वत नीच घृणा से फिरने को।
पक्षपात को छोड़ जब ब्रह्म सभी को चाहता,
लोष्ट-हृदय समसत्ता भूल जगत क्यों दाहता ॥२॥

दया प्रेमध्वनि मोहित करती जीवों को जगके उसकी ,
शीतल पवन चला फिर उन पर निद्रा ला देती सुखकी ।
दीनों का आक्रोश श्रवण कर भरी नहीं श्वासें दुःखकी ,
ज्ञान, योग भी हटा सके नहिं दीर्घ उदासी हत मुखकी ।
मोह नींद से जगत को क्षण पाने की आश क्या ,
देहसही पीड़ा रहित हास हुऐ नहिं भाव क्या ॥३॥

मोह प्रेम की वायु ससंयुत वृक्ष देखिये यहां यहां ,
धरणी जननी के पयोद पी डोल रहे हैं नहीं कहां ।
जीव लोक जन भाव द्रोह के दर्शन भी हैं नहीं यहां ,
कई मात अनुशासन पाकर ताप शीत सह रहे यहां ।
कर्तव्यों में निरत जो सदा तुष्ट हो हिल रहे ,
उनका तब आदर्श हा कौन २ हम दुःख सहे ॥४॥

क्या ममता भ्रातृत्व ज्ञान भी आभाकिरण देह को त्याग ,
निकल न इस कुत्सित आलय से मोहित करके जगको आज ।
एक भाव भर अखिल जगत में नहीं करेगी मुदित समाज ,
हां अवश्य तब नहिं आवेगा कहो एक घर सच्चा साज ।
हर्षित कर तब हमें क्या अपने में न मिलावगा ,
वाणी के माधुर्य से गीता क्या न सुनावगा ॥५॥

स्वामी श्रीरामतीर्थ जी महाराज के वचना मृत ।

१. अज्ञान भी कुछ अंश में सत्य में प्रतिष्ठित है।

२. सत्य से विशेष प्रेम करो और विजय से कम।

३. ज्ञानी मनुष्य आलपीन की तरह होता है। जिस प्रकार आलपिन का सिर उसे अत्यन्त नीचे जाने से रोकता है वैसे ही ज्ञानी पुरुष की बुद्धि उसे संसार के विषयों में डूबने से रोकती है।

४. बड़ा होना उतना ही आसान है जितना छोटा होना।

५. गुलाम अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही गुलाम है। अर्थात् जीव अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही बन्धन में है। जिस क्षण वह यह जानले कि मुझ में कोई बन्धन नहीं उसी क्षण वह बन्धन मुक्त हो जाता है।

६. जब तक याचना करते रहोगे तब तक कुछ प्राप्त न होगा। बेपरवाह बादशाह के जैसे बनो, इससे सब वस्तुएं स्वतः ही तुम्हारे पास पहुंचने लगेंगी जिस प्रकार लोग बादशाह के पास बिना बुलाये ही पहुंच जाते हैं।

७. वणिकवृत्ति की प्रार्थना न तो प्रार्थना है और न धर्म।

८. कामना पुरुष को स्त्री बना देती है।

९. जातीयता, वर्ण, देश या धर्ममत की बुनियाद पर किसी पर आसक्त मत हो ओ। जिसके विचार तुम्हारे विचारों के समान हैं वही तुम्हारा परिजन है।

१०. आश्चर्य है कि मनुष्य सांसारिक संपत्ति के लिये एक दूसरे को लूटना चाहते हैं। लेकिन जब आध्यात्मिक या धर्मिक सम्पत्ति उनके भेंट की जाती है तब वे उस भेंट करने वाले का नाश कर देना चाहते हैं।

११. जिस प्रकार अन्धेरे कमरे में रखी हुई वस्तु पर लगातार दृष्टि रखने से हम उसे दृष्टि गोचर बना लेते हैं वैसे ही अन्धकारमय अर्थात् दुःखमय परिस्थिति की ओर ध्यान पूर्वक देख कर जो उसे प्रकाश युक्त अर्थात् आनन्दमय बना सकता है वही सुखी है

१२. हमारे संसारी सम्बन्ध पीठ पर लदे हुए खाद्य पदार्थ के भार की तरह नहीं बल्कि पेट में पचाये हुए अन्न की तरह होने चाहिए। उन्हें बाधक नहीं बल्कि सहायक होना चाहिये।

१३. आरम्भ में नट रस्सी पर अकेला ही चढ़ता है और अच्छी प्रकार अभ्यस्त होने पर वह किसी लड़के या भारी पदार्थ को साथ लेकर उस पर नाच सकता है। ऐसे ही पहिले ऐकान्तिक जीवन द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेने पर मनुष्य दूसरों को अपने साथ रख सकता है।

१४. पुस्तकें पढ़ना या ज्ञान की बातें सीखना एक बात है और सत्य को प्राप्त करना दूसरी बात। तमाम धार्मिक शास्त्र पढ़ लेने मात्र से 'सत्य' नहीं जाना जाता।

१५. मन को सर्वदा काम में लगाये रखो उसे कभी विश्राम न लेने दो। मोह या आसक्ति रूपी ज्वर से बचने का यह सर्वोत्तम उपाय है।

१६. हम अपने पापों के लिये नहीं बल्कि पापों के द्वारा दण्डित किये जाते हैं।

१७. जिस तरह वसन्त ऋतु में जब किसी एक वृक्ष पर एक पत्ता या फूल प्रकट होना शुरु हो जाता है या जमीन से कोई पौधा उगने लगता है तब साथ ही चारों ओर सैकड़ों हजारों नये पौधे, पत्ते और फूल परिस्फुटित होने लगते हैं, ऐसे ही जब किसी मनुष्य में सुधार की दृढ़ भावना प्रकट होती है तब आशा युक्त सैकड़ों और हजारों व्यक्ति उसके निकट आने लगते हैं।

१८. किसी की समालोचना करना सब बुराइयों की जड़ है।

१९. तुम 'अमर' हो, अपने आपको जानो फिर किसी बीमा कम्पनी की सहायता के बिना ही तुम्हारे जीवन का बीमा हो जायगा।

२२. मुझे नीरजनता के सिवाय संग करने योग्य और कोई न मिला।

लक्ष्मी और नारायण

[ले० श्री गोपालप्रसाद जी शर्मा]

पद

वेश्या पाट पीताम्बर पहरे पतिव्रता अंग न सारी।
मूरख राजा राज करत हैं पण्डित भये भिखारी॥
ऊधो करमन की गति न्यारी॥ १॥

उपरोक्त विरुद्ध व्यवहार को देख आज कल कई लोग शंका किया करते हैं कि लक्ष्मी नारायण की पतिव्रता अर्द्धांगी है पर उसका यह कैसा विरुद्धाचरण है कि भगवद्भक्त तो निर्धन कंगाल देखे जाते हैं और पापी दुरात्मा धनवान होकर आनन्द में ऐश आराम करते हैं इस पर एक महात्मा का कथन है।

लक्ष्मी यथार्थ में नारायण की पत्नी है और वह महा पतिव्रता है। पति के बिना वह एक क्षण भी नहीं रह सकती पर फिर भी खा जाति है इससे बेचारी ठगी जाती है। हम संसार में देखते हैं कि असाधु धनवान होते हैं। तभी लक्ष्मी का उपयोग कर रहे हैं पर तुम जानते हो कि दंभी और असाधु किसे कहते हैं? हृदय में कपट होते हुए भी जो प्रगट में पवित्रता दर्शाता है वही असाधु और दांभिक कहा जाता है। यदि कोई भी प्रपंची यह कहता हो कि मैं प्रपंची हूं और उससे व्यवहार करने वाले यह जानते हों कि यह प्रपंची है तो कोई भी उससे व्यवहार करने न जायगा। जो प्रपंची होगा वह छल कपट करके ऊपर से तो यही कहेगा कि मैं सत्य परायण हूं और सच बोलता हूं। जहां सत्य है वहीं नारायण हैं। जहां नीति है वहीं प्रभु हैं। दांभिक झूठे प्रपंची चाहे भीतर कैसे ही हों पर सत्य और नीति का ढोंग करके वे ऊपर यह बताते

रहते हैं कि हमारे यहाँ प्रभु हैं इससे बेचारी भोली लक्ष्मी उस बात को सत्य मान के नारायण यहां हैं। मेरे पति यहाँ है। यह जान प्रपंची के घर चली जाती है। प्रपंची भी जहां तक बनता है सत्य काढोंग करके उस बेचारी को ठगने में रहते हैं पर यह ठगाई बहुत दिन तक नहीं चलती अन्त में जब लक्ष्मी यह जान जाती है कि मैं ठगी गई हूं तब वह ठगने वाले को शाप देकर विदा हो जाती है। हमारी दृष्टि रजोगुणी है इसीसे हम लक्ष्मी को आती तो देखते हैं पर जाती हुई नहीं देखते। हम दंभी और कृतघ्नी मनुष्यों को धनवान होते तो देखते हैं पर समय आने पर उस धन का क्या परिणाम होता है? और धन अपने साथ कैसे २दुःख लाता है? यह हम नहीं देख सक्ते। अनेक श्रीमान शरीर से दुःखी होते हैं। सच्चा प्रेम, सच्ची दया, सच्ची ममता सच्ची सहाय बुद्धि झोंपड़े में रहने वाले एक गरीब के घर जितने परिमाण में होती है उतनी एक श्रीमान् के घर में नहीं होती। पिता पुत्र से भय पाता हो, पुत्र पिता का खून करने को तत्पर हो, स्त्री पुरुष में मनोमालिन्य हो तो वह धन किस काम का है। श्रीमानों की ग्रहस्थी में प्रायः ये द्वन्द्व लगे ही रहते हैं। अधर्म युक्त लक्ष्मी के साथ विलास आता है। विलास के साथ अभिमान और अज्ञान आते हैं और अज्ञान नाश का कारण है यह सिद्धान्त निश्चय है। लोकोक्ति है कि किस की दौलत सात पीढ़ी तक चली है सो इसका कारण यही है कि वह लक्ष्मी धर्म युक्त नहीं है।

लोग कहते हैं कि साधु महात्माओं के पास नारायण के होते हुए भी लक्ष्मी क्यों नहीं होती सो यह उनका भ्रम है क्योंकि जहाँ नारायण की छाया भी होती है वहां लक्ष्मी जाने को तयार रहती है तो फिर जहां साक्षात् नारायण विराजते हैं वहाँ लक्ष्मी क्यों न जायगी? हम देखते हैं कि नानक गुरु महा गरीब थे पर आज उनकी यात्रा में लाखों की भेट चढ़ती है। कबीर, नरसी मेहता सन्त तुकाराम आदिके चरित्र दिखा के नाटक वाले लाखों रुपया पैदा करते हैं। यह क्या नारायण का प्रभाव नहीं है? आज भी सन्त पुरुषों की समाधि पर हजारों के पुष्प चढ़ाये जाते हैं, उनका यश गाया जाता है पर ऐश्वर्य्य और ऐश आराम के दास राजा रईसों का कोई नाम भी नहीं लेता यह सब नारायण का ही प्रताप है और श्री का प्रकाश है।

यहां यदि कोई यह शंका करे कि साधु पुरुष जीवित अवस्था में तो निर्धन रहे और मरण के पश्चात् धन समाधि पर चढ़ा तो इससे क्या लाभ?

इस पर यही कहा जायगा कि क्या आपने कभी किसी साधु से यह प्रश्न किया है कि आपको कुछ भी धन की आवश्यकता है? क्या साधुता सदाचार का मूल्य केवल लक्ष्मी ही है? नहीं! भोली लक्ष्मी दांभिकों से ठगी गई है इसलिये वह साधुओं को परीक्षा करने के कारण निर्धन रहने देती है पर जब उसे दृढ़ निश्चय हो जाता है कि यहाँ नारायण हैं तो वह वहीं चली आती है। साधु लक्ष्मी की कोई परवाह नहीं करते वे तो अनन्त ऐश्वर्य्य का भोग करते हैं।

— —

पुरुषार्थ

(ले० श्री पुरोहित रामस्वरूप जी शर्मा)

पुरुषार्थ शब्द मानव जीवन का एक अतीव मुख्य ज्ञेय विषय है। संसार भरके संपूर्ण जन किसी विकल्प कल्पना के साथ इसकी आवश्यकता अनादि काल से किसी न किसी रूप में मानते चले आये हैं। अथ च आगे भी मानते ही रहेंगे। परन्तु इसका तात्विक स्वरूप क्या है। इस विषय में सब प्रचलित धर्मों में पुरुषार्थ रूप से अन्तिम ध्येय दुःख की सार्वकालीन अत्यन्त निवृत्ति और परम सुख की प्राप्ति प्रायः सारे मतावलम्बी मानते हैं। दुःख की निवृत्ति प्रायः सामान्य साधनों से कथंचित्सर्वदा होती भी रहती है, परन्तु वह निवृत्ति सर्वदा एक नहीं रहती है वह निवृत्ति क्षणिक एक ओर से होकर दूसरी ओर सामान्य वा विशेष भाव से सदा ही समुत्पन्न और नष्ट होती रहती है। आधिभौतिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक, इन तीनों कोटियों में से किसी न किसी कोटिका दुःख प्रायः सर्वदा न्यूनाधिक रूप में रहता ही है। परन्तु किसी सुख विशेष की भावना के समय में वे दुःख इस प्रकार से लुप्त प्रायः रहजाते हैं, जैसे प्रबल सूर्य के प्रकाश में नभो मंडल में वर्तमान तारे विद्यमान होते हुए भी अदृश्य रूप में रहते हैं। अतः यह दुःख की निवृत्ति भी नाम मात्र निवृत्ति ही है क्योंकि वह स्थायी नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु वह सुख बीज रूप से दुःखावच्छिन्न ही है। भगवान् पातंजलि ने अपने योग सूत्र में यह सिद्धांत माना है कि:-

"परिणाम ताप संस्कारै दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।"

अर्थात् वस्तु जन्य आगंतुक सुख परिणाम वाले होने से ताप संस्कारों को उत्पादन करने वाले होवेंगे ही और इसीमत को सांख्य सिद्धान्त ने भी यह कह कर कि-

"दुःख त्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे तत्पाचेत् नात्यंततो॥"

अर्थात् दुःखत्रय आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, इनसे पुरुष को (अभिघात) पीड़ा होती ही रहती है और प्राणीमात्र से स्वाभाविक ही इसका संसर्ग बना रहता है। यद्यपि दृष्ट उपायों से इसकी निवृत्ति होती है तथापि वह निवृत्ति सर्व कालीन और आत्यंतिक नहीं है। अतः यह स्वयं सिद्ध होता है कि त्रिविध तापकी आत्यंतिक निवृत्ति जिससे हो सके वही परम पुरुषार्थ है, और अनेकांतिक निवृत्ति क्षुद्र पुरुषार्थमात्र वा पुरुषार्थाभास मात्र है! (परम) सत्य सदैव रूपावस्थायी पुरुषार्थ नहीं है।

पुरुषार्थ शब्द यौगिक है अर्थात् पुरुष और अर्थ इन दो शब्दों का जोड़ है; अतः आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रथम पुरुष किसको कहते हैं इसी पर विचार किया जावे। पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति है "पुरि शयनात् पुरुषः" अर्थात् पंचकोश वाली पुरी में जो शयन कर रहा है वह पुरुष है। इस पुरी से ये पाँच कोश वेदों में अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, मनोमय और आनन्दमय, इन नामों से कहे गये हैं अथवा स्थूल सूक्ष्म और कारण रूपी भी माने गये हैं अर्थात् शरीर रूपी पुरीके ये तीन परकोटे हैं। स्थूल शरीर दृष्टि गोचर होता है। सूक्ष्म शरीर ऐन्द्रियक विषय वाला, और कारण शरीर संस्कार वाला है। इस कारण शरीर में प्राणी के सात्विक, राजस, तामस, संस्कारों का चित्र चित्रित रहता है। और उसीको साथ लिये रहने से वा अपनाने से वही आत्मा पुरुष शब्द

वाच्य होता है इस कारण शरीर को साथ लिये हुए ही आत्मा जन्म जन्मान्तर और लोक लोकान्तर के उच्चावच्च भावों में इनसे संपरिष्वक्त रमहण करता है और इन भावनाओं वा संस्कारों के कारण ही यह जीव तन्मयता को प्राप्त हुआ अपने वास्तविक भावों को न जान कर अन्यथा आगंतुकानुरूप वस्तु प्रत्यय वाला होता रहता है। मैं मनुष्य हूं, ब्राह्मण हूं, विद्वान् कुलीन धनी युवकादि हूं, मानता रहता है इसी प्रकार संपूर्ण जीव योनि मात्र ही नहीं वरंच ब्रह्मा पर्यन्त सारे अपनी परिस्थिति के अनुसार अनुरंजित हो रहे हैं और वैसा ही अपने लिये जानते हैं। और तदनुकूल ही व्यवहार में लिप्त हो रहे हैं। अतएव उनमें पुरुषत्व सामान्य भाव से विद्यमान ही है और सत्व, रज, तमो मयी प्रकृति भी उनमें तारतम्य भाव से बनी हुई है। यहां तक कि ईशत्रयी अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, में भी ये गुण विद्यमान ही माने गये हैं जो सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति लय, के कारण इस देवत्रयी में भी वही शुद्ध चैतन्य पुरुषत्व त्रिगुणावच्छिन्न रूप से व्याप्त है। इसी विषय को यजुर्वेद में पुरुष सूक्त द्वारा विशेषतया वर्णन किया गया है और समष्टि रूप से परमात्मा को पुरुष रूप मान कर उसका विवेचन और स्वरूप वर्णन भी अतिरोचक और अलंकृत रूपक भाव में किया गया है। उस पुरुष को ही संपूर्ण जगत् रूप से वा मुक्त रूप से भी माना गया है। व्यष्टि जीव निज शरीराभिमानी है। वैसे ही समष्टि ब्रह्म विराट देहाभिमानी ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूपी होता हुआ ब्रह्मांड स्वरूप है। वही ब्रह्मांडाभिमानी त्रिमूर्ति त्रिगुणमय विराट पुरुष ही यह सारा जगत् है जो वेद और युक्ति सिद्ध भी है। और वही त्रिमूर्ति त्रिगुणात्मक ब्रह्म पुरुष है जिसको समष्टि अर्थात् अपृथक रूप से पुरुष सामान्यतया विराट पुरुष कहते हैं। जैसा कि पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि श्रुति द्वारा कहा गया है। वही परम पुरुष व्यष्टि पुरुषों का मूलकारण अग्नि विस्फुलिंग न्याय द्वारा व्यष्टि पुरुष रूप से था कीट ब्रह्मा पर्यन्त का अवबोधक है। और स्वप्न में जैसे व्यष्टि पुरुष अनेक विधि से देखता है सुषुप्ति या लयावस्था में एकत्व मात्रावशेष अपने आपको देखता है। "पुरुष एवेदं सर्वं" यह निर्णय इसी प्रकार अवास्तविक अनेक में एकत्व स्वरूप है। एकत्व स्वरूप में पुरुष और पुरुषार्थ ये दो बातें संभव हो नहीं सकती परन्तु व्यष्टि गतावस्था में वह अनेकत्व रूप से प्रतिभासित हो रहा है और अपने अन्य अन्य पदार्थों को मान कर अर्थ स्वरूप में उनकी कल्पना करता है और नाना विध उच्चावच्च भावों को अर्थ स्वरूप देकर उनमें भावनाओं की उत्पत्ति अपनी कल्पित गुणमयी वृत्तियों द्वारा कर लेता है। यही अज्ञान संसृतिका मूल है क्योंकि उसी मन्त्र के अन्तिम भाग में 'उताऽमृतत्वस्येशानो' कहा गया है जिस अमृतत्व की स्थिति में द्वैत का अत्यन्ताभाव है। पुरुष वा शुद्ध चैतन्य वास्तव में दो पृथग्भाव नहीं है वरंच महाकाश और घटाकाशवत् प्रतीतिमात्रावच्छिन्नत्व द्वारा इस द्वैतदृश्य को व्याप्त कर रहा है जो माया का ब्रह्म में वा अविद्या के जीवत्व भाव में अधिकरण है।

उक्त विषय से पुरुष क्या वस्तु है इसका कुछ विवेचन हो गया है। उसी पुरुष के असंगत्व उदासीनत्व सत् चिदानन्दात्मक स्वरूप में यद्यपि किसी अर्थ की अपेक्षा की कल्पना करना एक असद्विचार मात्र है। जो भय बन्ध रूप है तथापि इस प्रकार की कल्पना की निवृत्ति भी परम पुरुषार्थ है। मुक्ति का शास्त्र सम्मत मुख्य लक्षण "मुक्ति

हित्वान्यथा भावं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" यही है यदि स्वरूप से वस्तुतः भिन्न मुक्ति कोई पदार्थ है जो संपाद्य है तो वह अवास्तविक और भ्रमात्मक है, क्योंकि, शास्त्रकारों ने कृतक मात्र को अनित्य कहा है:-

"यत्कृतकं तत्तदनित्यं"।

हां इतना हमें अपनी अज्ञानावस्था में मानना उपयुक्त होता है कि कृतक वा आगंतुक को अपने वास्तविक भाव पर से परिमार्जन करके उस कैवल्य भाव को प्राप्त करलें वहां से पुनः पुनरावृत्ति कदापि न हो। इस दृष्टि से पुरुषार्थ का कथन एक संगत वस्तु है। निम्न दृष्टांत से इसका और स्पष्टी करण हो सक्ता है। एक शुभ्र अत्यन्त प्रकाशमय हीरक मणि कीचड़ चिकनाई इत्यादि से लिप्त हुआ अपने स्वरूप से विलग नहीं होते भी विलगसा हो रहा है क्योंकि कीचड़ादि से लिप्त है परन्तु कीचड़ादि के अपसरण पर वह अपने वास्तविक रूप से स्वयं प्रकाशमान हो जाता है।

एक और दृष्टांत वार्ता रूप में यहां कह देना असंगत न होगा। एक राजा अपनी राजधानी में रहता था उसके पूर्व संचित पुण्य के प्रभाव से वहां एक महात्मा का निवास हो गया। राजा उन महात्मा के पास नित्य ही आत्म स्वरूप की जिज्ञासा किया करते थे परन्तु महात्मा के शाब्दिक उपदेश से उसको आत्मा के अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई और उसमें वेदान्तज्ञान के लक्षणों की उपस्थिति होने पर भी विपरीत भावना दोष के कारण से साक्षात्कार नहीं होता था। साक्षात्कार हुए बिना ज्ञातव्य की विचिकित्सा रूपी पिशाची पीछा नहीं छोड़ती है इसलिये महात्मा एक दिन उस अपने शिष्य राजा के दरबार में ऐन्द्रजालिक का रूप धारण करके पधारे और राजाको तत्वज्ञान की प्राप्ति कराने के लिये एक कौतुक दिखाना प्रारम्भ किया राजा पर इसकी इच्छा का एक ऐसा प्रभाव पड़ा कि राजा प्रथम तो स्वप्नावस्था में हो गया जिसमें उसको भासने लगाकि वह महल में रात्रि होजाने पर भोजनादिक करके पर्यंक शायी हो रहा है और निद्राने उसको घेर रक्खा है परन्तु उसी अवस्था में मानो कुछ आदमी जिनमें उसका दीवान जो उसका अग्रणी है, उसको कैद करने को आगया है। राजा उसके भय से भवन में से गुप्त द्वार द्वारा बाहर निकल जाता है और अरण्य में घूमते २ उसके पांव छिद जाते हैं। वस्त्र फट जाते हैं, और वह क्षुधा तृषा से और पावों की व्यथा से चीख पड़ता है। परन्तु चीख पड़ने के साथ ही वह स्वप्न भी हट जाता है और देखता है तो वह ऐन्द्रजालिक वहां पर उपस्थित नहीं हैं परन्तु उसके स्थान में वहां वही महात्मा जिनसे ज्ञान की पूर्ति चाहता था उसके समक्ष खड़े हैं। उनको देख कर राजा ने दण्डवत् प्रणाम् किया, और अनुभव भी निवेदन किया महात्मा ने कहा कि अपनी परिस्थिति में जैसा वह स्वप्न फलप्रद था वैसा ही यह जाग्रत स्वप्न भी समझो इस प्रकार समझा कर महात्मा ने राजा को तत्वज्ञान की प्राप्ति करादी।

प्रत्याहार

[ले० श्री स्वामी आत्मानन्द जी]

इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से रोकने का नाम प्रत्याहार है। जैसे मुग्ध बालक को माता, अग्नि, सर्प, जलादि से बालक के हठ करने और बार बार दुखद पदार्थों की तरफ दौड़ने को रोकती

है, यहां तक कि अपने मूल कार्य में प्रवृत्त होने पर भी बालक की ओर दृष्टि रखती है उसको दुःखद पदार्थ पकड़ने नहीं देती इसी प्रकार कल्याणार्थी इन्द्रियों को विषयों की तरफ से रोकता रहे इसी का नाम प्रत्याहार है।

अन्य रीति इस प्रकार है—बाह्य इन्द्रिय चित्त के अधीन होकर बाहर के विषयों का ग्रहण करती हैं। जब संयम के अभ्यास से चित्त बाहर की ओर से निरुद्ध होजाता है, तो चित्त के समान सारी इन्द्रियां भी निरुद्ध होजाती हैं। उनके जीतने के लिये किसी और उपाय की अपेक्षा नहीं रहती। जिस प्रकार रानी मक्खी के उड़ जाने पर सारी (शहद की) मक्खियां उड़जाती हैं। और उसके बैठने पर बैठ जाती हैं। इसी प्रकार चित्त जब बहिर्मुख होता है, तो इन्द्रियाँ भी उनसे बहिर्मुख होती हैं। और जब चित्त बाह्य विषयों से विमुख होता है, तो इन्द्रिय भी विषयों से विमुख होती हैं। सो चित्त के अन्तर्मुख होनेपर इंद्रियों का बाह्य विषयों से विमुख होकर चित्तके स्वरूप की भांति का बनजाना प्रत्याहार है। अथवा यों समझिये, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधादि विषयों से निवृत्त की हुई श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिकादि चित्त स्वरूप के सदृश होती हैं। यानी इस अवस्था में चित्त तो बाह्य विषयों से विमुख होकर तत्व को साक्षात् करता है। पर बाह्य इन्द्रियें बाह्य विषयों से विमुख होती हैं। चित्त की तरह तत्व को ग्रहण नहीं कर सकी, परंतु शांति होजाती हैं। इसी स्थिति को प्रत्याहार कहते हैं। प्रति मनुष्य को प्रत्याहार करने की आवश्यकता है। क्योंकि इन्द्रियाँ ही मनुष्य को कुमार्ग में फंसाती हैं, और विषयों की असक्ति वाली इन्द्रियां इस जीव की अधोगति का कारण है। जैसे कुरंग, मातंग, पतंग, मीन भवरादि एक एक विषय में आसक्ति से बंध जाते हैं तो पाँचों विषय की आसक्ति वाले मनुष्य के अनर्थ का जिह्वा कहां तक वर्णन करने को समर्थ होसकी है। लेखनी कहां तक लिखने को समर्थ हो सकी है यानी आसक्ति वाले पुरुष के अनर्थ का कथन व लेख अशक्य है इसलिये जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है उसको प्रत्याहार अवश्य करना चाहिये मुझ कल्याणार्थी प्रत्याहार करने वाले को इन्द्रियों की पूरी व्याख्या समझनी चाहिये इन्द्रियाँ दश है। श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं और वागादि पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। ज्ञानेंद्रियों से पदार्थों का ज्ञान होता है। 'श्रोत्र' इन्द्रिय से श्रवण का ज्ञान होता है। 'श्रोत्र' इन्द्रिय का विषय 'शब्द' है, और देवता 'दिशा' है। 'श्रोत्र' अध्यात्म है, 'दिशा' अधिदैव है, और 'शब्द' अधिभूत है। इसी प्रकार 'त्वचा' इंद्रिय से कोमल कठिन का ज्ञान होता है। 'त्वचा' इन्द्रिय का 'स्पर्श' विषय है और देवता 'वायु' है। 'त्वचा' अध्यात्म है, 'वायु' अधिदैव है, और 'स्पर्श' अधिभूत है। इसी प्रकार 'चक्षु' का देवता 'सूर्य' और विषय 'रूप' है। 'जिव्हा' का देवता 'वरुण' है। और विषय 'रस' है। 'घ्राण' का देवता 'अश्वनीकुमार' है। और विषय 'गंध' है। 'वाणी' का देवता 'अग्नि' है। बोलना विषय है। 'हस्त' का देवता 'इन्द्र' है और लेना देना विषय है। 'पाद' का देवता 'विष्णु' है गमनागमन विषय है। कोई कोई आचार्य पाद का देवता 'वामन जी' को भी कहते हैं। 'उपस्थ' (लिंग) का देवता 'प्रजापति' है, और रति विषय है। 'गुदा' का देवता 'यम' है। मलत्याग विषय है। इस प्रकार से दश त्रिपुटी इन्द्रियों की हैं। और चार त्रिपुटी अंतःकरण की है, मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार भीतर, की इन्द्रियें हैं। 'मन' का देवता 'चन्द्रमा' है। 'संकल्प विकल्प' विषय है।

'बुद्धि' का देवता ब्रह्मा है, निश्चय करना विषय है। 'चित्त' का देवता 'वासुदेव' है, विषय चिंतन है। अहंकार का देवता 'रुद्र' है, विषय सुहंपना है। इस प्रकार १४ त्रिपुटी हैं। इन त्रिपुटियों का स्वभाव है, यदि एक न होवे तो व्यवहार नहीं चलता। इन्द्रिय और देवता होवे परंतु विषय नहीं तो भी व्यवहार नहीं चलता। और विषय और इन्द्रिय होवें परंतु देवता न हो तब भी व्यवहार नहीं चलता। इसी प्रकार संसार मात्र त्रिपुटी के भीतर ही है और त्रिपुटी अतीत परमात्मा है जो सब को सत्ता स्फूर्ति देरहा है। इसी प्रत्याहार को श्रीकृष्ण भगवान, आनंदकंद बाँके बिहारी ने भी अपने श्रीमुखारविंदु से कुंतपुत्र अर्जुन के प्रति श्रीमद्भगवत् गीता अध्याय तीन श्लोक ३४ में वर्णन किया है। अर्जुन! इन्द्रियों को इन्द्रियों के अर्थों में रागद्वेष प्राप्त होने पर भी मुमुक्षु को राग-द्वेष के वश में न आना चाहिये! इतना श्रीकृष्ण के कहने पर अर्जुन बोला! श्रीमहाराज! इन्द्रियों का विषयों में राग व द्वेष हो इसमें मुमुक्षु की क्या हानि है।

श्रीकृष्ण कहने लगे:-हे अर्जुन! चोररूपी मार्ग में चोर पथिक को लूटलेते हैं इसी तरह मोक्ष मार्ग में इन्द्रियों के विषय भी मोक्ष पथगामी मुमुक्षु को लूटते हैं। यानी रागद्वेष द्वारा मोक्ष साधन के आश्रय वाले को अपने आश्रय बलसे विषयारण्य में पतन करके तदनन्तर भ्रमण कराते हैं मोक्ष की जिज्ञासा को नष्ट कर डालते हैं। इसलिये मुमुक्षु ओं को और सद्सद्विवेकियों को विषयों में समी-चीन आदि बुद्धि से रागद्वेष की अधीनता को प्राप्त न होना चाहिये। इष्ट पदार्थ यानी अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति का नाम राग है। अनिष्ट पदार्थ यानी जो पदार्थ चाहा नहीं है अपनी चाहना से विरुद्ध है, उसकी प्राप्ति में जो चित्त का भाव है उसको द्वेष कहते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों की प्रति विषय में नियम से स्थिति होती है परंतु मुमुक्षु को इनके वशमें नहीं होना चाहिये। मुमुक्षुओं को द्रव्यों में गुणों में कर्म में समीचीन, असमीचीन, बुद्धि न करनी चाहिये। यदि विषयों में समचीन, असमी-चीन बुद्धि करनी भी पड़े तो मुमुक्षुओं को विषयों के समीचीन, असमीचीन पने में राग द्वेष न करना चाहिये। विषयों के वश में करने वाले रागद्वेष ही हेतु हैं, इसलिये मुमुक्षुओं को रागद्वेष नहीं करना चाहिये। मुमुक्षु को रागद्वेष से रहित होकर स्वधर्म के समीचीन, असमीचीन पने में ईश्वर प्रीत्यर्थ ही प्रवृत्त होना चाहिये। इस प्रकार की प्रवृत्ती से मुमुक्षु निर्विघ्नता से मोक्ष को प्राप्त होता है। इसमें कोई प्रकार का संशय नहीं है।

प्रत्याहार की सिद्धि होने पर इन्द्रियाँ स्वाधीन होजाती हैं, और मन की चंचलता भी नहीं रहती। चचलता न रहने से मन स्थिर होकर स्थित होता है। स्थिर होने से तत्वानुसंधान लग जाता है। श्रवण से १०० गुणा फल मननमें होता है। क्योंकि मनन को निश्चय हेतु होने से, जिसका चित्त स्थिर नहीं है उसके चित्तकी स्थिरता का कारण मनन साधक है, इसी प्रकार मनन से निदि-ध्यासन लक्षगुणितफल का हेतु है क्यों विजातीय प्रतीतिका त्याग (बहिरंग विषयों से रहित) करके स्वरूप मात्र का प्रकाशक होने से अत्यन्त स्थिरता का हेतु है और निर्विकल्प समाधि तो अनन्त फल का हेतु है, अनंत मोक्ष रूप फलका हेतु होने से कर्तव्य की और फल प्राप्ति की निर्विकल्प समाधि अवधिरूप है। निर्विकल्प संशय रहित ब्रह्म स्वरूप निश्चित साक्षात् प्रतीत होता है। और निर्विकल्प समाधि के नहीं होने से तो निश्चयरूप साक्षत्कार

नहीं होता, क्योंकि मनके अतिचंचल होने से कदाचित् अनात्म प्रतीति से मिलीहुई आत्म प्रतीति की संभावना होती है और निर्विकल्पसमाधि में तो मन के निश्चल होने से अनात्म प्रतीति की संभावना तो होही नहीं सकि केवल अद्वैत आत्मा का ही साक्षात्कार होता है। वेदांताचार्यों ने निर्विषयक मनकी स्थिति को ही आत्मा का स्वरूप कथन करा है। जहां विषय सुख तो होवे नहीं, और सुखकी प्रतीति हो, वही आत्मसुख है, वही सुख रूप भूमा है, अन्य सुख सब अल्प हैं सुख रूपा भूमा [परब्रह्म] अल्प नहीं है। हाथ में खप्पर लेकर चाँडाल की गलियों मे जाकर उनके घरों में से भीख माँग कर खालेना श्रेष्ट है, परन्तु मूर्ख होकर यानी आत्मा को बिना जाने जगत् में जीना अच्छा नहीं। ऐसे सुखरूप परमात्मा की प्राप्ति का ही वर्णन श्रुति भगवती करती है, और इस प्राप्ति का मुख्य कारण प्रत्याहार ही है, इसलिये मन क्रम वचन से प्रत्याहार करना चाहिये। प्रत्याहार ही महाफल का हेतु है जिसके बलसे जितेन्द्रिय होता है, जितेंद्रिय होकर निश्चल होता है, और निश्चल होकर सर्वांतर परमात्मा में निरन्तर अभेद भाव को प्राप्त होता है, अद्वैत ब्रह्म के साक्षात्कार से ही अनादि रूप अविद्या से उत्पन्न हुये आवरण को विनाश करता है। आत्मा का निरावरण मोक्ष रूप सुख जो निरतिशय वाला है, इस परम सुख रूप को प्राप्त होता है। जिसकी खोज में चींटी से ब्रह्मा पर्य्यन्त सभी दौड़ रहे हैं, उसी सुख को वेदप्रणार्थी प्रत्याहार द्वारा प्राप्त होता है। प्रत्याहार की महिमा अकथनीय है, वाणी से कथन नहीं होसकी, जिन्होंने प्रत्याहार सिद्ध करके परम सुख रूप परमात्मा को प्राप्त किया है, वही धन्य है। वही कृत कृत्य है। वही उस सुख को जानता है! और अधिकतर देखने में आता है कि प्रत्येक को प्रत्याहार करने का स्वभाव भी है, और करते भी हैं, परन्तु उसके फल को अनित्य पदार्थों में परिणित कर दुःख से दुःख को प्राप्त होते हैं। इसलिये जो वस्तु आप.। स्वतः प्राप्त है उसका दुरुपयोग त्याग कर सदुपयोग करना चाहिये। सदुपयोग करने से अनन्त सुख की प्राप्ति होगी। इन्द्रियों को विषयों से रोकना आत्म निष्ट करना यह ही सदुपयोग है, इसी का नाम प्रत्याहार है। विषय सर्व दृष्ट नष्ट है, आज है, कल नहीं दीखते। ऐसे आगमापायि विषयों में चित्त को क्यों लगाना चाहिये। यदि कोई कहे पदार्थों में भी तो सुख प्रतीत होता है, उसका उत्तर यह है कि वह सुख प्रतीत मात्र है वास्तविक नहीं, तुम्हारे ही परम सुख की झलके हैं। जब आप प्रत्याहार सिद्ध कर लेंगे, पता लग जावेगा सुख विषय का है या हमारा है। यदि विषयों में सुख, मान ही लीजिये! परन्तु आपको क्षणिक सुख तो अवश्य स्वीकार करना होगा इसलिये अल्प ही हुआ और भूमा (परमात्मा) को अनन्त सुख वाला श्रुति भगवती अपने श्रीमुख से कहती है, और वही भूमा तुम्हारा स्वरूप है यह श्रुति भगवती बारम्बार अनेक श्रुति वाक्य द्वारा बोधन करा रही है, कि तू ही परम सुख रूप है उठ जाग, खड़ा हो! श्रेष्ठ पुरुषों की शरण को प्राप्त हो कर अपने परम सुख रूप भूमा को प्राप्त हो! प्रमाद मत कर प्रमादी विषयासक्त पुरुषों को अपने सुख स्वरूप की प्राप्ति तलवार के तीक्ष्णधार के समान अत्यन्त कठिन है। नित्य प्राप्त होते हुये भी अपने को जैसे का तैसा जानने से अप्राप्त के समान ही है। इसलिये मुमुक्षुओं को उचित है कि विषयों की तरफ से नेत्र मूंद कर और अन्तःकरण को विषयों के चिंतन से रहित करके आत्म निष्ठ

होने के लिये प्रत्याहार करना चाहिये। ऐसा अवसर बारम्बार नहीं मिलेगा, मनुष्य शरीर धारण करने को साफल्य करना चाहिये, प्रत्याहार का अधिकार मनुष्य शरीर को ही है श्रुति, शास्त्रवेद वेत्ताओं ने कहा है। श्रुति सब से प्रबल प्रमाण है, जैसे राजा की आज्ञा सब से बढ़ कर है उसमें तरक वितर्क नहीं चलती और माननी ही पड़ती है, यदि नहीं माने तो उसका परिणाम कारागृह के अनन्त दुःखों का भोगना होता है चाहे कितना ही यत्न करे सर्व निष्फल जाता है। इसी प्रकार श्रुति भगवती की आज्ञा को मानो, प्रत्याहार करो! यदि नहीं मानोगे तो परिणाम में संसृति रूपी कारागृह के अनन्त दुःख तैय्यार हैं, चाहे जितनी चतुराई करो इस कारागृह से मुक्त नहीं हो सकते चतुराई सब निष्फल ही चली जावेगी। इसलिये परम सुख की चाहना वाले को प्रत्याहार प्रथम आवश्यकीय है, अन्त में स्वतः सिद्ध ही है।

कीजै प्रत्याहार नित, छोड़ि विषय की आस।
चतुराई चूल्हे पड़े, जग से होउ उदास॥
जग से होउ उदास, भक्ति में तन मन दीजै।
रखो न किंचित आस, प्रेम प्रभु से करि लीजै॥
आत्मा कहे पुकार, सुधा रस छण छण पीजै।
मिथ्या है संसार, प्रेम नहीं कबहुं कीजै॥

करो न काऊ मित्र, मित्र संयम को कीजै।
कभी न होवे दुःख, सर्व दुख नाशक कीजै॥
क्यों करता है देर, गोद भगवत् की हुजै।
मतलब का संसार कोई नहिं अपना सूझै॥
श्रुति माता की टेर सुन, आत्मा सिर पर धारे।
धर नित प्रत्याहार तू भव से होजा पारे॥

प्रतिक्षण करो इन्द्रिय दमन नहिं विषय में मन दीजिये।
त्यागो विषय विष जान के, नहिं विषय आशा कीजिये॥

हारो न लड़ने से कभी, संग्राम विषयों से करो।
रहने न पावे लालसा, आत्मा गमन नहिं फिर करो॥
चिंता सभी दुख खानि है, नहिं चित्त में चिन्ता धरो।
चिन्ता कबहु नहिं कीजिये, चाहे चिता में जल मरो॥
हो सिद्ध प्रत्याहार तब, निश्चय अमर पद पाइये।
आत्मा न होवे दुःख फिर, नहिं लौट जग में आइये॥

१ मात पिता भगनी सुत धन दार सुता सब संसार के है। लेन देन के सम्बन्धी है कोई अन्त समय का सहायक नहीं है। इससे इन लोगों की चाहना छोड़ करके राम को भजो।

२ जगत् भासमात्र है विकारी है यहां के प्रत्येक पदार्थ कहां से आते कहां जाते है पता नहीं उनमें आसक्ति करने से दुःख ही दुःख होता है इसी से उनकी चाहना छोड़ कर राम को भजो।

३ जगत् के पदार्थ जगत् में रहते हैं परलोक में कोई साथ नहीं देता सब अपने स्वार्थ से जुड़े हैं इसीसे राम को भजो

४ शरीर विकारी है मलमूत्र से भरा हुआ है रोग का घर है अनेक आपत्तियों का स्थान है विकारी और नाश वाला है इससे इसकी आसक्ति छोड़ कर राम को भजो।

५ शरीर को भजने वाले शरीर धारण करके कष्ट पाया करते हैं कामना संसार सागर में घुमाती है अविवेक का अन्धेरा आत्म सूर्य को ढांप देता है इसीसे आत्म प्रकाश के हेतु राम को भजो।

६ राम का भजन संसार और संसार के दुःखों से छुड़ाने वाला है राम की कृपा से निर्मलता प्राप्त होती है राम का भाव दुःखों से हटाता है आनन्द सागर में स्नान कराने वाला राम ही है इसीसे राम को भजो।

८ काम क्रोधादिक जिसमें मगर रहते हैं

ऐसे संसार सागर से राम पार करते हैं मन को शान्ति का देने वाला है ताप का हरण करता राम ही है, अज्ञान राक्षस के मारने वाले राम को भजो।

८ राम भजन बिना आनन्द क्या? राम बिना निर्मलता कहां शांति का स्थान अखंड सुख की प्राप्ति कराने वाला हो राम है तत्व से देखा जाय तो राम के सिवाय कुछ नहीं है इस से राम को भजो।

राम भजेजा काम करेजा ना काहू का डर है।
परदेशी का देश वस्त है ना काहू का घर है॥

संसार नश्वर है! नश्वर है!! नश्वर है!!! राम ही सत्य है! सत्य है!! सत्य है!!! याद रक्खो याद है तो आबाद है भूल है तो बरबाद है! चिड़िया रैन बसेरा जगत् वृक्ष है, भूल मत करो! मत करो!! मत करो!!! राम को भजो! भजो!! भजो!!!

श्याम

(ले० श्री गंगा विष्णु पाण्डेय विद्याभूषण 'विष्णु')

देवकी के बारे श्याम कुबरी के कारे श्याम,
प्रेम मत वारे श्याम प्रेमरस पीजिये।
नंदके दुलारे श्याम गोपिन के प्यारे श्याम,
पीत पटवारे श्याम दरशन दीजिये।
वंशी हाथ धारे श्याम प्राणन अधारे श्याम,
मोर पंखवारे श्याम मेरी सुध लिजिये।
'विष्णु' नैन तारे श्याम, भारत सहारे श्याम,
गीता ज्ञान वारे श्याम, देर नाहि कीजिये।

(२)

कारे अंग वारे श्याम, गोप संग वारे श्याम,
वंशीवट वारे श्याम गैयन बिसारौना।
बांके नैन वारे श्याम, मीठे बैन वारे श्याम,
माल गल डारे श्याम मोहिनी सी डारौ ना।
धर्म ध्यान प्यारे श्याम, सत्य प्रन वारे श्याम,
सारे काम सारे श्याम, बात अटकारौ ना।
'विष्णु' रूप वारे श्याम शंखचक्र वारे श्याम,
देशके सहारे श्याम हिम्मतको हारौ ना॥

आत्मानुभूति

(ले० श्री महात्मा राम)

आत्मा अपने असली स्वरूप का नाम है। यद्यपि आत्म शब्द का प्रयोग मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियां और इस स्थूल देह आदि अनेक स्थलों में किया जाता है तथापि आत्म शब्द का मुख्य अर्थ तो सत् चित् आनन्द स्वरूप केवल शुद्ध आत्मा ही है। अन्यत्र गौण रूप से आत्म शब्द का प्रयोग होता है। जब तक शुद्ध आत्मा को नहीं जानता है तब तक गौण आत्मा में ही आत्मभाव रहता है। जब शुद्ध आत्मा को अपना आत्मा करके अर्थात् अपना स्वरूप भूत करके जान लिया जाता है तब दूसरे जो गौण आत्माओं में आत्मभाव माना हुवा था वह स्वतः ही निवृत्त हो जाता है। वास्तव में असली आत्मा तो एक ही है और उसकी नकल अनेक हैं. जब असल मिल जावे तब नकल को कौन चाहे। जब तक असल नहीं मिले तभी तक नकल को पसन्द करते हैं। उदाहरण जैसे व्रज की गोपियों का श्रीकृष्ण भगवान् में इतना स्नेह था कि उनको अपने पतियों से भी कुछ प्रयोजन न था यद्यपि वह पतिव्रत धर्म का भले प्रकार जानती थीं तथापि भगवान् कृष्ण की लीलाओं को देख कर उनका विश्वास और उनकी भक्ति श्रद्धा इतनी बढ़ी हुई

थी कि उनको यह निश्चय था की हमारे पति और पुत्रादिकों का नाता झूठा है और यह मोह मात्र है। वास्तव में हमारे असली पति तो श्रीकृष्ण भगवान् ही हैं। जो हमारे क्या सब जगत् के प्राणदाता हैं ये ही संसार का उत्पत्ति पालन और संहार करने वाले हैं। इसलिये हमें इनकी शरण लेना चाहिये। जब इस प्रकार के भाव युक्त हुई गोपियें अपने पतियों की उपेक्षा करके श्रीकृष्ण भगवान् के रास मंडल में आने लगीं तब एक दिवस श्रीकृष्ण भगवान उन आई हुई गोपियों के प्रति इस प्रकार कहने लगे 'हे गोपियों! तुम अपने पतियों की उपेक्षा करके हमारे पास आती हो यह तुम्हारा पतिव्रत धर्म के विरुद्ध आचरण है सो तुमको अपने पतियों की सेवा में ही रहना चाहिये श्रीकृष्ण भगवान् की बात सुन कर सब गोपी चुप रह गईं। तब सुमती दाता श्रीकृष्ण भगवान् के अनुग्रह से एक गोपी ने यह उत्तर दिया। महाराज सुनिये! एक पतिव्रता स्त्री का पति विदेश को गया और स्त्री की विनय करने पर अपना चित्र उतार कर। स्त्री को दे गया और कह गया के जब तक मैं वापिस न आऊं तब तक तू इस की पूजा किया कर स्त्री ने वैसा ही किया कुछ काल के उपरान्त वह पुरुष विदेश से आया, दरवाजे पर पुकारा कि हे प्रिया! तुम किवाड़ खोलो मैं देव शर्मा विदेश से लौट कर आया हूं। उस समय वह स्त्री अपने उस नकली पति की पूजा में संलग्न हो रही थी आप बतलाइये की उस स्त्री को क्या करना चाहिये उस नकली पति की पूजा ही करती रहे या अपने असली पती के पास आकर दरवाजा खोल देवे। तब श्रीकृष्ण भगवान ने उत्तर दिया कि हे गोपीयो! उसको अपने नकली पति को छोड़ कर तुरन्त ही दरवाजा खोल कर अपने असली पति को लाकर उसकी सेवा पूजा करनी चाहिये जब गोपियों को श्रीकृष्ण भगवान् ने इस प्रकार का उत्तर दिया तब गोपियाँ कहने लगीं की बस महाराज आपने ही हमारा उत्तर भी दे दिया हमारा भी यही निश्चय है कि हमारे सच्चे पति आप ही हैं और यह नकली पति हैं, अब आप ही बतलाइये की हम आप की उपासना करें या उन पतियों की। उपरोक्त उदाहरण के अनुसार ही मुख्य आत्मा और गौण आत्मा का प्रश्न है गौण आत्मा में आत्मत्व भाव तब तक ही रहता है जब तक मुख्य आत्मा का ज्ञान नहीं होता है। मुख्य आत्मा का ज्ञान और आत्मा में स्थिति को प्राप्त करना यह परमेश्वर के तथा सद्गुरु के अनुग्रह बिना नहीं हो सका। अपने वर्ण आश्रम के अनुसार करने से तथा इन्द्रियों के निग्रह आदि तप करने से और भगवत् के प्रसाद से वैराग्य आदि साधनों को संपादन करके पुरुष ज्ञान प्राप्त करने के योग्य होजाता है।

वैराग्यादि साधन सम्पन्नः।

इसलोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त के विषय भोगों के रस में प्रीती न होना और उन विषयों में काक विष्टा के समान भाव होना निर्मल वैराग्य कहा जाता है। आत्मा से भिन्न सर्ववस्तु अनात्मा हैं अनित्य हैं, और एक आत्मा ही नित्य है और नाश से रहित है। इस प्रकार आत्मा अनात्मा के निश्चय को विवेक कहते हैं। सर्वकाल में जो वासना का त्याग करना है यह शम कहा जाता है। बाह्य मनोवृत्तियों का विषयों से निग्रह दम कहलाता है। और विषयों से वृत्ति का सर्वथा रुकजाना उपरति कही जाती है। शरीर में होने वाले सर्व प्रकार के दुःखों को सहन करना तितिक्षा कहते हैं। वेद शास्त्र और आचार्य के वाक्यों पर भक्ति और विश्वास का होना श्रद्धा कही जाती है। आचार्य द्वारा श्रवण

करते समय सत्य में लक्ष्य रखना अर्थात् चित्त को एकाग्र रखना समाधान कहाजाता है। किस प्रकार मेरी संसार के बन्धन से मुक्ति होगी और कब होगी ? हे भगवन् ! मुझपर दया करो मैं आर्त हूं हे प्रभो ! कृपा करो इस प्रकार जिसकी दृढ़ बुद्धि होती है वह मुमुक्षता कहलाती है। इन साधनों से संपन्न होकर आत्मज्ञान की सिद्धी के लिये पुरुष को विचार करना चाहिये, विना विचार के ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है जैसे अन्धकार में धरे हुये पात्र का भान प्रकाश के विना अन्य प्रकार से नहीं हो सका।

विचार का स्वरूप

मैं कौन हूं और यह जगत किस प्रकार उत्पन्न हुआ है और इस जगत् को किसने उत्पन्न किया है और इस जगत् का उपादान कारण क्या है इस प्रकार का विचार करना चाहिये। मैं पंच भूतों का समुदाय रूप देह नहीं हूं क्योंकि जाग्रत अवस्था में रहने वाला स्थूल देह स्वप्नावस्था में नहीं रहता है और स्वप्नावस्था का सूक्ष्म शरीर सुषुप्ति अवस्था में नहीं रहता है और जागृत अवस्था में स्वप्न और सुषप्ति अवस्था वाला सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर दोनों का ही अभाव रहता है। और मैं आत्मा तो जागृत अवथा में स्थूल शरीर का अभिमानी होकर विद्यमान रहता हूं और वही आत्मा स्वप्नावस्था में सूक्ष्म शरीर का अभिमानी होकर सर्व वासनाओं को प्रकाशता हूं और सुषुप्त अवस्था में अविद्या रूप कारण शरीर को प्रकाशता हुआ विद्यमान रहता हूं। इस प्रकार के अन्वय व्यतीरेक युक्ति से मैं आत्मा पंच भौतिक देह रूप नहीं हूं। और नेत्रादिक इन्द्रिय रूप भी मैं नहीं हूं क्योंकि नेत्रादिक किसी इन्द्रिय के विद्यमान होते हुये जो मैं आत्मा विद्यमान हूं सोई आत्मा उस इन्द्रिय के अभाव काल में भी विद्यमान रहता है। नेत्रादिक इन्द्रियों के अस्तित्व को भी मैं आत्मा प्रकाश करता हूं और नेत्रादिक इन्द्रियों के अभाव काल में भी मैं आत्मा ही उन इन्द्रियों के अभाव को प्रकाश करता हूं। इस प्रकार की मुक्ति से नेत्रादिक इन्द्रिय रूप भी मैं आत्मा नहीं हूं किन्तु मैं इन सर्व से विलक्षण हूं। इस प्रकार का विचार करना चाहिये। मुझ आत्मा के अज्ञान से ही यह सर्व जगत् उत्पन्न होता है और मुझ आत्मा के ज्ञान से सर्व प्रपंच लय हो जाता है। अपना संकल्प ही अनेक सृष्टियों को उत्पन्न करता है। अज्ञान और जगत् का उपादान कारण एक अव्यय सूक्ष्म आत्मा ही है जैसे सर्व घटादिक कार्यों का एक मृत्तिका ही उपादान कारण होता है। मैं आत्मा एक होकर भी सर्व का साक्षी हूं, तथा सर्व का ज्ञाता हूं, अति सूक्ष्म और सत् हूं, नाश से रहित हूं।

आत्मा निष्कल अज्ञान का स्वरूप है एक है और यह देह अनेक विकारों से आवृत्त है ऐसे देह को और आत्मा को एक करके मानना ही महा अज्ञान है। आत्मा सर्व का नियामक है और देहादिकों के अन्तर है और देह बाह्य है तथा नियामक भी नहीं है फिर आत्मा और देह को एक मानना यही तो अज्ञान है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और देह अज्ञान रूप है आत्मा पुण्यमय है तथा शुद्ध है और देह मांसमय तथा अशुचि है। आत्मा सर्व का प्रकाशक है तथा स्वच्छ है और देह तामस है तथा मलीन है। आत्मा नित्य है, सद्रूप है और देह अनित्य है तथा असद्रूप है। ऐसे देह और आत्मा को एक रूप जानना अज्ञान नहीं तो क्या है। मैं देह हूं, यह मेरा है इस प्रकार मान कर मूढ़ बुद्धि वाला पुरुष स्थित होता है यह कैसा आश्चर्य है। जो देह घट आदिकों की न्याई सदा अपने से

अलग है उसी को अपना आत्मा मानता है।

ज्ञान का स्वरूप।

सत्, चित् आनन्द लक्षण युक्त शान्त स्वरूप सम भाव में स्थित मैं केवल ब्रह्म हूं देह जो असत् जड़, दुःख का भण्डार अशान्त क्षण में बदलने वाला है सो मैं नहीं हूं इस दृष्टि को बुद्धमानों ने ज्ञान कथन किया है। मैं आत्मा सर्व दुःखों से रहित हूं तथा नित्य प्रकाशमान हूं सर्व भेद कल्पना से रहित हूं गुण और गुणी भाव से रहित व्यवहार शून्य नित्य मुक्त स्वभाव अच्युत अविद्यादिक मल रहित, निश्चल, अनन्त अजर, अमर, शुद्ध, अविनाशी हूं, मुझ आत्मा के देह में विद्यमान् होने से यह देह भी शोभा युक्त रहता है आत्मत्व उपाधी को ग्रहण करने के योग होता है और मुझ आत्मा के पृथक् होने पर यह देह अमंगल मय भयानक हो कर नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। फिर भी मूर्ख लोग देह को ही आत्मा मान लेते हैं। अहं अहं शब्द से प्रसिद्ध एक अद्वतीय सर्व से परे स्थित ऐसा जो आत्मा है वह आत्मा अनेकत्व स्थूलत्वादिक उपाधियों को प्राप्त होने वाले देह रूप किस प्रकार हो सका है। मैं आत्मा द्रष्टा रूप से प्रसिद्ध हूं और देह दृश्य रूप से स्थित है मेरा देह है इस प्रकार कह कर पुकारा जाने वाला होकर भी देह रूप आत्मा किस प्रकार होसक्ता है। मैं आत्मा सर्व विकार रहित हूं और देह नित्य ही विकारों वाला है इस प्रकार साक्षात् प्रतीत होते हुए भी देह आत्मा रूप कैसे हो सकता है।

'असंगोऽयं पुरुषः' बृहदारण्यकोपनिषद् में पुरुष जो आत्मा है वह असंग बतलाया है अर्थात् आत्मा संग रहित है और यह देह अनन्तमलों से संयुक्त है। उसी प्रकरण में 'स्वयंज्योतिर्हि पुरुषः' यह पुरुष जो आत्मा है वह स्वयं प्रकाशमान है और यह देह जड़ है तथा पर प्रकाश्य है कर्मकाण्ड में भी आत्मा को देह से पृथक् ही बतलाया है क्योंकि इस देह में किये हुये कर्मों का फल दूसरे जन्म में अन्य ही देह में भोगा जाता है। यदि आत्मा देह से अलग न होवे तो इस देह के नाश होने पर उन स्वकृत कर्मों के फल को कौन भोगे। और अग्नी होत्रादि कर्मों का अनुष्ठान करने वाला स्वर्ग को जाता है तथा इष्टापूर्ती आदि अनेक यज्ञों का जो शास्त्रों ने विधान किया है वह सब मिथ्या ही होगा और वेद शास्त्रों पर श्रद्धा रखने वाले आस्तिक पुरुषों को वेद शास्त्रों का मिथ्यावादित्व किसी को भी इष्ट नहीं हो सक्ता इस लिये आत्मा देह से अलग है और देह से विलक्षण अर्थात् विरुद्ध स्वभाव वाला है। पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मइन्द्रियां पांच प्राण चतुष्टय अन्तःकरण इन १६ तत्वों का मिल कर सूक्ष्म शरीर है और एक एक भूत के पांच २ अंश मिल कर २५ प्रकृतियों का स्थूल शरीर है और ये दो तो शरीर उत्पत्ति नाश वाले हैं तथा दृश्य है। और अव्यापक है असद्रूप है और आत्मा सर्वथा इनसे विलक्षण है फिर आत्मा देह रूप किस प्रकार हो सक्ता है। उपरोक्त रीति से देह में आत्मत्व बुद्धि का निवारण किया। आत्मा से भिन्न देह का अस्तित्व यानि देह और आत्मा के भेद का निवारण करते हैं। क्योंकि चैतन्य जो आत्मा है वह सर्वत्र एक ही रूप से समान भाव में स्थित है उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं बन सक्ता और जीवों का जो नानात्व है यह मिथ्या है सत्य नहीं है। जैसे भ्रान्ति से पुरुष रज्जु को सर्प मानलेता है अथवा सर्प को रज्जु मान कर पकड़ लेता है। जैसे रज्जु के अज्ञान से क्षणमात्र के लिये रज्जु ही सर्प के

आकार से भासने लगती है तैसे ही चैतन्य आत्मा भी विश्वाकार से भासने लगता है।

'सर्वं ह्येवेदं पुरुषः' यहसर्व जगत् पुरुष रूप ही है इत्यादिक श्रुतियों में भी सर्व जगत् को पुरुष रूप कथन किया है और सर्व जगत् का उपादान कारण ब्रह्म के सिवाय अन्य कोई नहीं है। इसलिये भी सब कुछ ब्रह्म का ही स्वरूप है। क्योंकि कार्य की सत्ता कारण से भिन्न नहीं होती कार्य कारण रूप ही होता है। और जो ब्रह्म की जगत में व्यापकता कथन की है वह भी मिथ्या है जब सर्व ही आत्मा है तब किस की किस में व्यापकता होवे।

'आत्मैवेदंसर्वम्, ब्रह्मैवेदंसर्वम्।'

यह सर्व कुछ आत्मा ही है। यह सर्व जगत् जो दृष्टि गोचर है सब ब्रह्म रूप है। इस प्रकार परम तत्व के जानने पर भेद के लिये अवकाश ही कहाँ रहा। और भेद जो नाना पना है उसको श्रुतियों में भी भले प्रकार से निवारण किया है बल्कि अद्वतीय सर्व के मूल कारण रूप ब्रह्म में जो नाना पना मानता है उसके लिये श्रुतियों ने अति दोष कथन किया है यथा श्रुतिः।

'मृत्युं स मृत्युमाप्नोति य इहनानेव पश्यति।'

जो पुरुष इस अद्वतीय ब्रह्म मे नानात्व भाव को देखता है वह मृत्यु से पुनः मृत्यु को प्राप्त होता है। इस श्रुति के कथन से भी भेद वादी पुरुष के लिये अति हानि बतलाई है और 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'।

जो ब्रह्म में द्वैत पने को न्याई मानता है उसको दूसरे से भय का होना श्रुति ने कथन किया है। ऐसे द्वैत भाव के निश्चय करने वालों के लिये अनिष्टत्वापत्ति के सिवाय कोई फल नहीं है। और इसके इलावा द्वैत भाव को तो अज्ञानी मूर्ख लोग भी जानते हैं कि हम सब एक दूसरे से न्यारे २ हैं किसी का पीत वर्ण है किसी का गौर वर्ण है इत्यादि भेद को सिद्ध करते हैं। यदि ज्ञान का भी यही फल हुआ तो विशेषता क्या हुई यह तो पहले ही सिद्ध था. इसलिये

'न स पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते। श्रुतिः
अनावृत्ति शब्दादनावृत्ति शब्दात् ॥ ब्रह्मसूत्र
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'। (गीता)
ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवती॥' श्रुति

श्रुति तथा ब्रह्म सूत्र और गीता स्मृति आदि शास्त्रों में ब्रह्म को प्राप्त होकर पुनः आवृत्ति का निषेद किया है और ब्रह्म के जानने वाला ब्रह्म ही रूप होता है तथा।

'तरति शोकमात्मवित्, अमृतो भवति।'

इत्यादिक ज्ञान का फल कथन किया है। उसी अद्वितीय ब्रह्म से सर्व भूत प्राणी उत्पन्न हुए हैं अतः सर्व ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही सर्व नाम तथा रूप अनेक प्रकार के आकारों को धारण करता है। और कर्मों को भी ब्रह्म ही अपने में धारण करता है। जैसे सुवर्ण से उत्पन्न होने वाले सर्व आभूषण सुवर्ण रूप ही होते हैं किसी काल में भी वह सुवर्ण से पृथक् नहीं होते हैं तैसे ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले सर्व पदार्थ भी ब्रह्म रूप ही हैं।

सर्व रूप तथा सर्व का प्रेरक भी ब्रह्म ही है। केनोपनिषद में गुरू के प्रति शिष्यने प्रश्न किया है कि हे गुरोः?

'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उदेवो युनक्ति'

किस करके इच्छा किया गया तथा किससे प्रेरा हुआ मन विषयों पर गिरता है। और किस करके प्रेरा हुआ प्राण गति अगति रूप कर्म में प्रवृत्त होता है और किस करके प्रेरित की हुई इस वाणी को मनुष्य उच्चारण करता है। नेत्र

और श्रोत्र को कौन देवता विषयों के सन्मुख जोड़ता है। इस प्रकार शिष्य के प्रश्न का श्रीगुरु-देव के आकार को प्राप्त हुआ जो परम पुरुष परमात्मा है वह उत्तर देता है।

अपूर्ण

भक्ति

(ले० श्री पं० नन्दकिशोर जी पाण्डेय शास्त्र भूषण)

इस असार संसार में सर्वोत्कृष्ट सन्मार्ग प्रदर्शक यदि कोई पदार्थ है तो केवल भक्ति ही है जिसे पाकर संसार के अग्रगण्य भक्त श्रेणी में भक्त शिरोमणि प्रहलाद ध्रुव प्रभृति जैसे आर्य्यवीरों की अनुपस्थिति में भी आज भगवती वसुन्धरा को गोद पूर्ण के ही तुल्य है भक्ति का प्रकार हमारे पूज्यपाद ऋषियों ने मुक्त कण्ठ से, यों वर्णन किया है:-

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

"विद्यते सर्वेषुपदार्थेषु इति विष्णु" अर्थात् विष्णु भगवान की कथा का श्रवण और दूसरा भगवान् का कीर्तन, भगवान् की याद, तथा चरणों की सेवा, पूजा, वन्दना करना, दासताभाव, मित्रों की तरह अनिवार्य्य मैत्री का भाव, आत्म निवेदन ये नव विभाग हैं जिन्हें कार्य में लाना भक्तों का मुख्य कर्तव्य है।

परन्तु इन में मन शक्ति की सब से अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि उसीके ऊपर मानव समाज की नींव टिकी है जिस पर विशाल ज्ञान महल बनने वाला है, इसीलिये हमारे किसी कवि ने बहुत उत्तम बताया है कि:-

जो मन नारि की ओर निहारत, तो मन होत है नारिके रूपा
जो मन काहू से क्रोध करै, तब क्रोध में लीन हो जातु है रूपा
जो मन माया ही माया रटै नित सो मन बूडत माया के कूपा
सुन्दर जो मन ब्रह्म विचारत तो मन होत है ब्रह्म स्वरूपा॥

इसलिये ब्रह्म की भक्ति करते हुए मनः शक्ति को हमेशा उसी ओर लगाना चाहिये। इसी तरह भक्ति का परिचय तथा प्रेम के सम्बन्ध में हमारे परम पूज्य मर्य्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने कहा है।

जननी, जनक बन्धु सुत दारा।
तनुधन सुहृद भवन परिवारा॥
सब की ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहु बांध बरि डोरी॥

भगवान रामचन्द्र के इस वचन से सूचित होता है कि इन्हें उन लोगों की भक्ति किस तरह प्रेम प्राङ्गण में बद्ध कपाट हो घेरे रखती थी। जिससे निकलना उन्हें कठिन है क्योंकि प्रेम ग्रन्थि को वे नहीं तोड़ते। अतः यह भक्ति ऐसा पदार्थ है जो किसी व्यक्ति विशेष, जाति विशेष अथवा बुद्धि विशेष अवस्था विशेष के ऊपर निर्भर नहीं, बल्कि सामान्य से सामान्य श्रेणी में भी भक्ति का महत्व देख कर भगवान् ने उसे गले लगाया है जैसे कि कहा हुआ है।

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का।
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्॥
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषं।
भक्त्या तुष्यति केवलं न तु गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

एवं हमारे भक्त शिरोमणि तुलसीदास जी ने बतलाया है कि ईश्वर के भक्त के लिये भक्ति के सिवाय समग्र राज्य सामान तुच्छ है यथा-

तीन टूक कौपीन के औभाजी बिनु तीन।
तुलसी रघुवर मन बसे इन्द्र बापुरो कौन॥

बहुत से प्रपञ्ची लोग इस तरह भी कह

डालते हैं कि क्या ईश्वर घूस खोर या खुशामदी है कि उसे भजन या प्रार्थना करने से प्रसन्नता होगी, उस पर स्वयं हमारे भगवान् ने कहा है। कि-

ये दारागार पुत्राप्तान प्राणान् वित्तमिदं परम्।
हित्वा मां शरणं याता, कथं तां त्यक्तु मुत्सहे॥

आगे फिर भगवान् ने कहा है कि-

मोक्षेन पुण्यं कुशलेन पापं कलेवरं कालतवेन हित्वा।
कीर्तिं विशुद्धां सुरलोक गीतां, विताय मामेष्यसि मुक्तबन्धः

पुनः ईश्वर ने बतलाया है कि मैं स्वाधीन न रह कर भक्त ही के अधीन रहता हूं जैसे-

अहं भक्त पराधीना ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभि ग्रस्तहृदयो भक्तै भक्तजन प्रियः॥

पुनः भगवान् कहा है-

नाहं वसामि वैकुण्ठे न योगिहृदयेषु च।
मम भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।

भक्ति रज्जु में बन्धे हुए भगवान् कृष्ण के विषय में हमारे व्यास जी महाराज बताते हैं जो यशोदा के हाथ से बन्धे गये थे यह बाललीला के समय की बात है वहां व्यास जी का वचन यों है। तामात यष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वर स्तनोऽवरुह्याससार भीतवत् गोप्यन्न धावन् नयसाप योगिनां क्षमं प्रवेष्टुं तपसे रितंमनः

न चान्तं बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्त र्जगतो यो जगच्चयः॥
तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिंगमधोक्षरम्।
गोपिकोलू खले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥
तद्दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः।
द्वयङ्गुलोनम् भूतेन संदधेन्यच्च गोपिका॥
यदासीत्तदपिन्यूनं तेनान्यदपि संदधे।
तदपि द्वयङ्गुलन्यूनं यद्यदत्त बन्धनम्॥
एवं स्वगेह दामनि यशोदा संदधायपि। इत्यादि

अर्थात् एक बार भगवान् कृष्ण ने बाललीला करते हुए घर की कितनी वस्तुएं नष्ट कर डालीं जिस परब्रह्म का आदि अन्त और मध्य नहीं जो संसार को बन्धन से छुड़ाते उसे बांधने की इच्छा से श्रीमती यशोदा आती हैं आगे २ कृष्ण पीछे से यशोदा दौड़ती हैं और पकड़ नहीं पातीं और पसीने से व्यग्र तथा थकी हुई जान कर प्रेम से प्रसन्न होने वाले हमारे सत्प्रेम के पक्षपाती भगवान् कृष्ण खड़े हो जाते हैं और यशोदा रस्सी से बांधने का यत्न करती हैं किन्तु तो भी रस्सी दो अंगुल घट जाती है एवं जब २ रस्सियां आती हैं और दो अंगुल घट जाया करती हैं इसी प्रकार घर की सारी रस्सियाँ निबट गईं तो भी वही हालत रही। तब माँ को खिन्न शरीर और थकावट युक्त जान कर स्वयं ही प्रेम बन्धन में बन्ध गये। भगवान् अपने भक्त की इच्छा को पूरी करने में कैसे उद्यत हो गये हैं।

किन्तु मनुष्य के अन्दर श्रद्धा सच्ची होनी चाहिये और प्रेम का बन्धन सुदृढ़ एवं अटूट भक्ति से पगा हुआ होना चाहिये। ऐसे होने से कभी ईश्वर पृथक् होही नहीं सकते उन्हें आना ही पड़ेगा। क्योंकि इसी पर हमारे प्रेम के उपास्यदेव भगवान् कृष्ण ने कहा है

न मां जानन्ति मुनयो योगिनश्च परन्तपाः।
न चरु द्रादयो देवा, यथागोप्यो विदन्ति माम्॥

अर्थात् मुझे मुनिलोग, योगी एवं परमतपस्वी और रुद्रप्रभृति देवता नहीं जानते जैसे गोपियाँ सब जानती हैं।

भक्ति इसी को कहते हैं कि भगवन् कृष्ण के चलेजाने पर भक्तों का प्रेम जब इन्हें आकर्षित किया है तब उधो से भगवान ने यों कहा है कि-

उधो बस जैसो मेरी कहियो समुझाय मैयो।
यापै ऋणबाढ़ै सो विदेश चल्यो जाय है॥
कामरि लकुट मोहि भूलत न एक पल।

घुघची ना विसारो बाकी साख उरधार है ॥
जादिन ते छाँकै छूट गई ग्वाल बालन की।
तादिन ते भोजन न पावत सकारे हैं ॥
मनै यदुवंश ओपै नेह यदुवंश हूं पै।
वंशी ना विसारो ओपै वंश हु विसारे हैं ॥
उधो ब्रज जैओ मेरी लैओ चौगान गन्द।
मैया से कहिओ हम ऋणिया तिहारे हैं ॥

इसतरह प्रेमियों के ऋण को चुकाने में तत्पर रहते हैं इस भक्ति का मार्ग बहुत विलक्षण और सच्चा है, जिसने इस पीयूष प्रवाह में डुबकी लगाई है उसे योग मार्ग का गमन पीयूषसेवी को खार जल सेवन करने की तरह है, जैसे पाती लाने के बाद अन्त में सखियां सब उधो के प्रति कहती हैं कि-

श्याम तन श्याम मन श्याम ही हमारे धन,
आठों याम ऊधो हमें श्याम ही से काम है ॥
श्याम हिये श्याम जीये श्याम बिन नाहि तीये,
आखेरे की लाकडी अधार नाम श्याम है ॥
उधो तुम भये बौरे पाती लाये दौरे दौरे,
योग कहां राखें यहां रोम रोम श्याम है ॥

औरों की बात क्या मुसलिम कवियों का सम्राट्, कविवर रसखान ने भगवान कृष्ण की भक्ति में विभोर होकर यों कहा है-

मानस हौंतो वही रसखानि ससौं बज गोकुल गांवके ग्वारन।
जो पशु हौंतो कहावस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मंझारन ॥
पाहन हौंतो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग होतो बसेरो करौं वही कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥

इसतरह अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है की भक्ति से बड़े २ भक्त शिरोमणि भगवान को पाकर अपने जीवन का लाभ उठा चुके हैं। इसलिये भक्ति ऐसी वस्तु है जिसे प्राप्त कर ईश्वर के ज्ञान मार्ग का अधिकारी बन सकता है। इसलिये हमारे शास्त्रकारों ने बतलाया है कि:-

पूजनाज्जायते भक्तिर्भक्त्या ज्ञानं प्रजायते।
ज्ञानाद्विज्ञान संसिद्धिस्ततो याति परांगतिम् ॥

अर्थात पूजा से भक्ति भक्ति से ज्ञान और ज्ञान से विशिष्ट ज्ञान की सिद्धि और विशेष ज्ञान होने से मुक्ति होती है। भक्ति और ज्ञान का सम्बन्ध इस तरह है जैसे सूर्य के उष्णत्व सामान्य किरण के साथ सांसारी पदार्थों का सम्बन्ध है।

भक्ति आधार और ज्ञान आधेय है. जब तक वैराग्य का-स्वच्छन्द स्वातन्त्र्य साम्राज्य का अभाव रहता है तब तक काम, क्रोध, लोभ, मोह मद, मात्सर्य इत्यादि किलों का अधिपत्य हस्तगत नहीं होता, इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण ने बतलाया है कि:-

काम एषः क्रोधएष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

भावयह है कि काम क्रोधादि जो महावैरी हैं इसे जानो। इन सबों की उत्पत्ति रजोगुण से होती है। यह भगवान का उपदेश इसबात को सूचित कर रहा है कि सर्वतः प्रथम मनुष्य को चाहिये कि काम क्रोधादि पदार्थों को अपनी विलक्षण विचार शक्ति से विवेक के सहारे दबाने की कोशिश करे। किन्तु इन छः किलों को तोड़ने के लिये भक्ति जैसे महारथी सदाचार वाग डोर के द्वारा ब्रह्म जैसेस्वतन्त्र मार्ग होकर कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय रथ में उभयात्मक मन की धुरी पर दोनों ज्ञान विज्ञान के चक्कों से चलाने पर निर्भर है जिसमें परमात्मा की अटूट श्रद्धा ही परम उपकृत है। ईश्वर ने हमें भक्ति प्रदान कर हम मानव समुदाय को बड़ा उपकार

पहुंचाया है भक्ति कल्पतरु की कितनी ही शाखायें हैं यथा मातृपितृ भक्ति, गुरु भक्ति ये सब उसी परब्रह्म परमात्मा के महान् तेज पुञ्ज के छोटे २ अंश हैं परमात्मा ने संसार रूपी पुष्पवाटिका को सद्विचार जल से सींच कर, दुराचार और दुर्व्यवहार प्रभृति कांटों को जड़ से उखाड़ भक्ति पुष्प को चुन प्रेम सूत्र से गूंथकर वैराग्य नरेश की प्रसन्नतार्थ पुष्पहारों से सुसज्जित कर सर्वदा स्वानुकूल रखने में तत्पर रहने के लिये हमें इस संसार में भेजा है। जिसे लाभकर आगे आत्मशक्ति को बढ़ावे योंही जैसे २ रेशमरज्जु में दृढ़ता पुष्प में मनोहरता आती जायगी वैसे ही ज्ञान कर्मचारी का प्राकृतिक सौंदर्य्यावलोकनार्थ सर्वदा भ्रमण होगा।

उनके स्वच्छन्द भ्रमण से भक्ति पुष्प के साथ ग्रन्थि सुदृढ़ बनकर वैराग्य नरपति के साथ विद्युत्सखी का रूपधारण कर ब्रह्म के महानेत्रपुञ्ज को प्राप्त कर उस स्थान को अलंकृत करेगा जिसे भगवान कृष्ण ने अपने वचनों से कहा है कि–

"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम"

अर्थात् जहां पर जाकर मनुष्य की आत्मा फिर लौटे नहीं (मुक्ति) वही मेरा उत्तम धाम है। किन्तु इतना होना कोई एक जन्म में नहीं इसलिये भगवान ने स्पष्ट कहा है कि–

"अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति परांगतिम्"

इसी तरह अनेक जन्मतक भगीरथ प्रयत्न करने से सिद्धि होती है। क्योंकि इसमें काम जैसे महातीक्ष्ण बाण के लिये मन रूपी मसाले से कठिन और दुर्भेद्य कवच की रचना परमावश्यक है। एवं क्रोध–करालविष के लिये शान्ति पीयूष के हृदयद्रुम से प्रत्येक नसों में सुधा संचार होना अनिवार्य है। लोभ जैसे महान् प्रचण्ड अग्नि के लिये विशाल त्याग मेघ माला के सवर्षण की और मोह जैसे महा यमदूत के लिये ज्ञान रूपी वैष्णवी चक्र की आवश्यता है। मोहरूपी मतवाले मतङ्ग के लिये विज्ञान-(ज्ञानकी विशेषता) अंकुश रखना, एवं मत्सरता–रात्रिके लिये आत्म सूर्य्योदय की परमावश्यकता है, इन सब साधनों को रखने से आप परम सौभाग्य शालिनी श्रीमती भगवती भक्ति देवी की आराधना के सहारे परम अलौकिक स्थान को प्राप्त कर सकते हैं। जहां अपूर्व ज्ञान का भण्डारा है वहां विरले ही को पहुंच है और वह परमपिता जगदीश्वर जो कर्म के भोग हेतु चराचर जीवों को सृष्टि रूप में परिणत करता है, और पुनः कर्म के मुताबिक आगे और पीछे को बढ़ाता है को प्राप्त होते हैं।

जैसे कि भगवान ने गीता में कहा है–

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

अर्थात् अच्छे २ कर्मोद्वारा आत्मा को ऊपर उठाने की इच्छा रखो नीचे गिराने की नहीं। यह परम श्रद्धेय और सर्वोत्कृष्टध्येय है। और सब के लिये यही आदर्श होना चाहिये। तभी परधाम को पहुंचने में समर्थ होसकता है। ॐ शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

भजन

(सं० श्री गौरीशंकर ब्रह्मचारी)

१

थारी बोली लागे म्हाने मीठी रे सांवरा ॥ टेक ॥
सकरी गली में मन मोहन मिलियां।
कैसे फिरूंगी मैं तो पूठी रे सांवरा ॥ १ ॥
थे तो सांवरिया म्हाने सिरको साहिब।
मैं थारे हाथ की अंगूठी रे सांवरा ॥ २ ॥

सास बुरी मेरी ननद हटीली।
जल बल होगी अंगीठी रे सांवरा ॥ ३ ॥
मीरां के प्रभु गिरधर नागर।
भेजी मरम की चीठी रे सांवरा ॥ ४ ॥

२

सांवरे का डेरा कितनी दूर है बतादे सखी ॥ टेक ॥
इत मथुरा उत गोकुल नगरी।
यमुना बहत भरपूर ॥ १ ॥
इस मथुरा की मस्त गुवालिन।
मुख पर बर्षे नूर ॥ २ ॥
चन्द्र सखी भज बाल कृष्ण छवि।
सांवरे से मिलना जरूर ॥ ३ ॥

३

कब आवेगी वैरन परसों ॥ टेक ॥
दिल चाहता है उड़के जाय मिलूं।
मोसे उड़ा न जाय बिन परसों ॥ १ ॥
घनश्याम नहीं वर्षा ऋतु आई।
दुख देत पपीहा ऊपरसों ॥ २ ॥
घन गर्जे और बिजली चमके।
मेहा कहे मैं बरसों बरसों ॥ ३ ॥
कोई आज कहे कोई कल कहे।
कोई आय कहे परसों परसों ॥ ४ ॥
चन्द्रसखी भज बाल कृष्ण छवि।
हरि के चरण बिना मैं तरसों ॥ ५ ॥

४

चलो सखी दर्शन करने।
रथ में रघुनन्दन आवत हैं ॥ टेक ॥
सीता रामलक्ष्मन भरत शत्रुघन।
हनुमत चंवर डुलावत हैं ॥ १ ॥
झांझ बजें कहीं ताल बजें कहीं।
नारद वीणा बजावत हैं ॥ २ ॥
रतन सिंहासन बैठे चारों भाई।
सखियाँ मंगल गावत हैं ॥ ३ ॥
मात कौशल्या करत आरती।
तुलसीदास यश गावत हैं ॥ ४ ॥

५

साधो यह जग भर्म भुलाना ॥ टेक ॥
रामनाम का सुमरन छोड़ा,
माया हाथ बिकाना ॥ १ ॥
मात पिता भाई सुत बनिता,
ताके रस लिपटाना ॥ २ ॥
यौवन धन प्रभुता के मदमें,
अह निशि रह दिवाना ॥ ३ ॥
दीन दयाल सदा दुःख भंजन,
तासों मन न लगाना ॥ ४ ॥
जन नानक कोटिन में किनहूं,
गुरु मुख होई पिछाना ॥ ५ ॥

६

राम बिना तेरा कोई ना सहाई,
रात दिना तू सुमर ले भाई ॥ टेक ॥
यह जग है कोई दिन का मेला,
क्यों झूठी है प्रीति लगाई ॥ १ ॥
भाई बन्धु कुटुम्ब छोड़कर,
इकला जावेगा तू भाई ॥ २ ॥
कुछ भी तेरे संग चलेना,
महल मंडैया खूब बनाई ॥ ३ ॥
इकबल हरिका नाम न लीना,
आयु अपनी वृथा गंवाई ॥ ४ ॥
कोई है सुख में कोई है दुखमें,
यह रचना है राम बनाई ॥ ५ ॥
माधव रहे ईश की शरना,
जो परलोक में होवे सहाई ॥ ६ ॥